पुरानी मिट्टी नये ढाँचे

वीरेन्द्र मेंहदीरत्ता

इन्द्रा भाभी को

अनुक्रम

तक्षक अपने जीवन की सर्वोत्तम मूर्ति के निर्माण में निरत था। वर्षों से वह उसमें दैवी सौन्दर्य की स्थापना का प्रयत्न कर रहा था। वाञ्छित भंगिमा और आकृति न बना पाने के कारण कला के प्रति उसकी आस्था घटती जा रही थी।

अर्ध रात्रि को तक्षक विक्षिप्तों की भाँति अपनी अधूरी रचना की ओर देख रहा था।

निराश तक्षक को अपनी असफलता पर इतना क्रोध आया कि उसने मूर्ति को नष्ट करने का निश्चय किया।

प्रथम प्रहार करने जा रहा था कि उसे लगा जैसे मूर्ति एकाएक बोल उठी, "अरे तक्षक यह क्या करने जा रहे हो ? निराशा के प्रथम आघात से ही इतने विह्वल हो उठे ! मेरी ओर देखो, वर्षों से तुम्हारी छेनी के प्रहार सह रही हूँ, किन्तु चुप हूँ ! क्या मेरी मूक पीड़ा का कभी अनुमान लगाया ? पीड़ा और यातना के गर्भ से ही सौन्दर्य की सृष्टि होती है। इसलिए अपने लक्ष्य में विश्वास रखो और अदम्य उत्साह के साथ आगे बढ़ते चलो ! सफलता अवश्य मिलेगी ! निराश मत हो, साधना करो।"

तक्षक ने मूर्ति के आगे सिर झुका दिया। उसे जीवन-दृष्टि मिल गयी !

पुरानी मिट्टी नये ढाँचे

अनावश्यक पात्र

ज्ञान मिस्टर वर्मा के घर में बहुत हिल-मिल गया। साँझ समय यदि चाय की मेज़ पर वह न होता तो मिस्टर वर्मा स्वयं उसे खींच लाते। असल में दिन-भर फ़ाइलों में उलझे रहने के बाद घर आकर चाय पीते समय ज्ञान के साथ बहस करना मिस्टर वर्मा का मन-बहलाव-सा हो गया था। ईश्वर की समस्या से लेकर चमारों की उलझनों तक के प्रत्येक विषय पर बहस होती।

एक दिन जात-पात को लेकर बहस हो रही थी कि एकाएक मिस्टर वर्मा बोले, "क्यों जी, तुम कौन जात हो?"

"मैं जात-पात में विश्वास नहीं रखता," ज्ञान ने अपने ऐनक के शीशे साफ़ करते हुए कहा।

"तुम चाहे विश्वास न करो, पर तुम्हारे माता-पिता में से कोई तो विश्वास करता होगा!" मिस्टर वर्मा उत्तर की प्रतीक्षा में ज्ञान की ओर देख रहे थे।

"पिता को तो मैंने देखा ही नहीं, और माँ? माँ के पास इतना समय कहाँ था कि जात-पात के बारे में सोचे। उन दिनों उसे अपने बेटे को पढ़ाने की धुन लगी हुई थी। और देखो मिस्टर वर्मा, मेरी माँ पढ़ी-लिखी नहीं थी, परन्तु फिर भी महान थी। सुबह उठकर पृथ्वी को छूती और कहा करती—'धरती माता, अपनी सारी संतान

को अन्न देना और उसके पश्चात मेरे पुत्र को भी !' कितनी महान् थी उसकी प्रार्थना और कितना विशाल था उसका हृदय !" ज्ञान की आँखों में एक विचित्र प्रकार की चमक आ गयी ।

"तुम्हारी माँ वास्तव मे महान् थी । पर तुम्हें माँ ने ही एम० ए० तक पढ़ाया ?"

"नहीं ! माँ तो तब ही चल बसी थी, जब मै दसवीं में था । बाद में तो स्वयं ट्यूशनें करके पढ़ा !" ज्ञान ने ठंडी उसाँस लेते हुए कहा ।

"मतलब यह कि तुमने खूब मेहनत की है !"

"मेहनत तो खूब की, पर उसका फल नही मिला !"

"फल कैसे नहीं मिला । बनारस विश्वविद्यालय में ख्याति पायी । एम० ए० की परीक्षा में प्रथम स्थान पाया । दिल्ली विश्वविद्यालय में अब इतनी अच्छी नौकरी मिल गयी है—और क्या चाहिए ।"

"सिर्फ़ इतना और चाहता था कि माँ अपने बेटे को इस हालत मे देख पातीं—बस और कुछ नहीं ।" भावुक ज्ञान की आँखे भर आयीं ।

चाय की केतली उठाये, स बा की धुन में सीटी बजाती हुई रमा कमरे में आयी । आँखों में चंचलता, ओठों पर स्मित-रेखा और चाल में अस्थिरता थी । चलते समय उसके पंजे आगे और पीछे इस तरह पड़ते मानो साँबा के स्टेपों का अभ्यास कर रही हो । आते ही बोली, "क्यों पापा, आज कोई बहस शुरू नही हुई ? ज्ञान बाबू और आप मेज़ पर बैठे हों और कमरे में चुप्पी ? यह कैसे ?"

"इन्हें अपनी माँ की याद आ गयी ।" मिस्टर वर्मा अपराधी की तरह बोले ।

"ओ !—सो बिग एण्ड सो सेन्टीमेन्टल !" रमा ने चाय उड़ेलते हुए आश्चर्य प्रकट किया ।

मिस्टर वर्मा ने भी ज्ञान के आगे चाय का प्याला रखते हुए कहा, "हाँ ज्ञान, भावुकता तुम्हें शोभा नहीं देती !"

कृत्रिम रूप के मुस्कराकर ज्ञान बोला, "हाँ ! आप ठीक कहते हैं—मगर उस माँ को कैसे भुला सकता हूँ जिसने दूसरों के घर की जूठन साफ़ करके मुझे पढ़ाया हो। उन दिनों मैं कई बार सोचता था, जब मैं कमाया करूँगा तो माँ को कुछ आराम तो मिलेगा। अब कमाता हूँ तो माँ नहीं है।"

"यह तो सब भगवान की माया है ज्ञान !"

"यह भगवान की माया नहीं, ग़रीबी का अभिशाप है। यदि माँ को मेरी पढ़ाई के लिए दिन-रात मेहनत और आधा पेट खाकर न सोना पड़ता तो शायद वह इतनी जल्दी न मरतीं !" ज्ञान के शब्दों में दृढ़ता थी।

"जीना मरना तो अपने बस का नहीं। आदमी तो भगवान के हाथों का खिलौना है। भगवान चाहे तो......"

रमा ने नज़ाकत से हाथ नचाकर बीच ही में टोका, "अब आप भगवान पर ही बहस न शुरू कर दें, चाय ठंडी हो रही है।"

"हाँ मिस्टर वर्मा, छोड़िए इन बातों को।" ज्ञान बोला। फिर रमा की ओर देखकर तनिक मुस्कराते हुए उसने पूछा, "क्यों रमा, क्या तुम्हें हमारी यह बहसें अच्छी नहीं लगतीं ? यह तो बड़ी ऐजूकेटिव होती हैं। क्या तुमने भगवान के बारे में कभी नहीं सोचा ?"

"जब बिना उसके बारे में सोचे ही काम चल जाय तो क्यों फ़ज़ूल की चिन्ताएँ लगायी जायँ।" रमा चाय पीने में खो गयी।

"हाँ ! हाँ ! सोचने की आवश्यकता ही क्या है।" व्यंग्य-पूर्ण लहजे में मिस्टर वर्मा कह रहे थे। "तुम स्त्रियों ने पढ़-लिखकर यों ही गँवाया ! इधर तुम्हारी माँ अच्छी-भली इन्टर पास है पर क्या मजाल

कि कभी अख़बार भी पढ़ी हो! कानवेंट में भी तुम्हें इसीलिए दाख़िल किया कि शायद वहाँ की पढ़ाई का असर पड़े। तुम तो माँ के पद-चिन्हों पर चल रही हो न!"

"पा—पा!" रमा ने लचीली शिकायत भरी आवाज़ में कहा। वह लजा गयी। केतली उठाकर रसोई की ओर चली गयी।

काँस के कटोरे की खनखनाहट की तरह मिस्टर वर्मा हँसते हुए बोले, "सच्ची बात आदमी को कितनी बुरी लगती है। देखा ज्ञान?"

"ख़ैर छोड़िए!" ज्ञान ने अख़बार उठाकर पढ़ना शुरू कर दिया।

मिस्टर वर्मा का बातों-ही-बातों में उसके वंश और घर वालों के बारे में पूछना ज्ञान को भला लगा। वह संकेतों को भली-भाँति समझ गया।

उसके मन में अनेक प्रश्न आने लगे—क्या वह कानवेंट में पढ़ी रमा जैसी चचल लड़की के निर्वाह कर सकेगा? चंचल कहाँ? मिस्टर वर्मा का प्रभाव उसकी चंचलता को दबाये है—घर में वह स्कर्ट नही पहन सकती—पर मेज़ के नीचे तो रमा के चंचल पाँव किसी-न-किसी स्टेप का अभ्यास किया करते हैं। इससे क्या होता है? यदि रमा जैसी सुशिक्षित युवती उसकी जीवन संगिनी बन जाय तो यह उसका सौभाग्य ही समझो!

रमा को ज्ञान का अपने घर आना-जाना बुरा लगता हो, यह बात न थी। मन-ही-मन वह ज्ञान को श्रद्धा की दृष्टि से देखती थी। ज्ञान की विद्वत्ता से वह प्रभावित थी। पर कभी-कभी रमा यह भी सोचती कि ज्ञान के व्यक्तित्व में आखिर क्या अभाव है जिसके कारण वह आज-कल के युवकों से कुछ अलग-सा दीख पड़ता है। वह उनकी तरह स्मार्ट और आकर्षक क्यों नहीं है।

"आओ ज्ञान बहुत देर से तुम्हारा इन्तज़ार हो रहा है—क्या कहीं बाहर गये थे ?"

"नहीं तो—यों ही एक किताब पढ़ रहा था, सोचा पढ़कर ही उठूँ।" ज्ञान ने कुर्सी पर बैठते हुए उत्तर दिया।

"अरे भाई अपने लिए नहीं, तो हमारा ख़याल करके ही जल्दी आ जाया करो ! तुम्हारे न रहने से हमें भी ढंग से चाय नहीं मिलती ! रमा ! बेटी रमा ! ज्ञान आ गया है, अब तो चाय ले आओ !"

"ओ—!"

रमा चाय की केतली पकड़े सामने के दरवाज़े से आ रही थी। ज्ञान ने स्निग्ध दृष्टि से ही इन्तज़ार के लिए रमा का धन्यवाद किया। रमा ने लजाकर चेहरा झुका लिया। ज्ञान को रमा का यह रूप बहुत भला लगा।

अख़बार पढ़ते हुए न जाने मिस्टर वर्मा को क्या सूझी कि एकाएक बोल उठे, "अंग्रेज़ों की गुलामी से हमारा इतना नुक्सान नहीं हुआ जितना उनकी संस्कृति के प्रभाव से हुआ है ! दिल्ली के होटलों और नाच-घरों में इसी की फैलायी गन्दगी है।

ज्ञान ने चाय की चुस्की लेते हुए कहा, "हम पर पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति का प्रभाव अच्छा नहीं पड़ा, यह मै मानता हूँ, परन्तु उस संस्कृति को दूषित कहना ग़लत है। प्रत्येक संस्कृति का विकास अपनी परिस्थितियों के कारण होता है !—और प्रभाव का जहाँ तक सवाल है, दो जातियाँ जब सम्पर्क में आती हैं, तो एक दूसरे पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है !

"हाँ पापा ! ठीक तो है ! इसमें बुरा क्या है !" रमा को ज्ञान की बात भली लगी।

"पर आज अचानक यह कैसे सूझी ? आप ने स्वयं भी तो रमा

को कानवेंट में दाख़िल करा पश्चिमी प्रभाव को स्वीकार किया है !"
ज्ञान कह रहा था।

"ज्ञान बाबू, रमा को कानवेंट दाख़िल उन दिनों करवाया था जब मैं सोचा करता था कि इन स्कूलों के सिवाय अन्य स्कूलों में तो पढ़ाई होती ही नहीं ! अब सोचता हूँ सीनियर कैम्ब्रेज तो वह यहाँ से कर ले। कॉलेज में जाकर यह अँग्रेज़ी प्रभाव सब ठीक हो जायगा।"

"अँग्रेज़ी प्रभाव ? अँग्रेज़ी प्रभाव कैसा ?"

"अरे यही जो नया बाल-रूम डाँस का शौक हुआ है, सब ठीक हो जायगा !"

"अच्छा ? तो रमा डाँस भी जानती है ?"

"जानती क्या है ? स्कूल में बाल-रूम डाँस सब को सिखाते हैं। पर मुझे यह सब पसंद नहीं ! सच बात तो यह है कि हमारी सभ्यता में यह उल्टी-सीधी बाते चल ही नहीं सकतीं !" मिस्टर वर्मा ने अपने अख़बार को बन्दकर कोहनी के नीचे दबा लिया और बोले, "पर जाने क्यों आज कल के लड़के और लड़कियाँ इनके पीछे दीवाने हो गये हैं।"

"उन का दीवाना होना स्वाभाविक है मिस्टर वर्मा ! पश्चिम के भौतिकवाद में इतनी चमक-दमक है कि यदि व्यक्ति दिमाग़ से न सोच-कर सिर्फ़ आँखों के भरोसे चले तो अवश्य आकर्षित होगा ! और आज कल के लड़के-लड़कियाँ तो इस चमक-दमक के पीछे अन्धे हो जाते हैं—सो फिर भला या बुरा, दिखायी क्या देगा ?" ज्ञान का लहजा, क्लास-रूम में दिये जाने वाले लेक्चर का-सा था।

"शायद तुम ठीक कहते हो ज्ञान !" यह कहकर मिस्टर वर्मा ने रमा को बुलाया, "रमा ! रमा बेटी ! चाय का पानी तो लाना।"

"लायी पापा।" भीतर से आवाज़ आयी।

पाँच मिनट के बाद रमा आयी। तैयार होकर बाहर निकली थी।

ज्ञान ने क्षण भर के लिए रमा के निखरे रूप को देखा और आँखें झुका लीं।

"कहीं पार्टी है क्या?" वर्मा ने पूछा—

"मेरी सहेली शीला पुरी की शादी है न, उसी ने बुलाया है—हो आऊँ?"

"अच्छा जाओ! पर वक्त पर घर आ जाना!" ज्ञान की ओर देखकर मिस्टर वर्मा ने कहा।

"तुम्हारी क्या सलाह है ज्ञान, रमा को मिरांडा-हाउस दाख़िल करा दें?"

"मिरांडा-हाउस?" जैसे ज्ञान को यह बात भली न लगी हो, पर कुछ सोचकर बोला, "लड़कियों के लिए आज कल यही कॉलेज प्रसिद्ध है, सो बुरा नहीं।"

"हाँ पापा मैं मिरांडा-हाउस ही पढ़ूँगी। मेरी सारी सहेलियाँ वहीं दाख़िल होंगी—अच्छा अब मैं जाऊँ पापा।" उठते हुए रमा ने ज्ञान की ओर भी देखा।

मिस्टर वर्मा ने अख़बार उठाकर पढ़ना शुरू कर दिया और बोले, "आज के हिन्दुस्तान-टाईम्ज़ का सम्पादकीय देखा, ख़ूब लिखा है?"

"अच्छा लिखा है!" ज्ञान ने खिड़की के बाहर देखा। रमा तेज कदम रखते हुए चली जा रही थी।

ज्ञान तीन-चार दिनों से महसूस कर रहा था कि रमा के व्यवहार और बात-चीत करने के ढंग में पहले की-सी आत्मीयता नहीं है, कर्त्तव्य से बँधी वह चाय पीने आती है, पर ध्यान उसका कहीं और होता है। खोयी-खोयी रहती है।

आज ज्ञान को आकर बैठे पन्द्रह मिनट हो गये, पर कोई न आया। मिस्टर वर्मा दफ़्तर से वापस नहीं आये थे। आगे जब कभी

ऐसा मौका होता तो रमा आ जाती, पर आज वह भी न आयी।

थोड़ी देर बाद मिसेज़ वर्मा आयीं और बोली, "क्यों बेटा! कब आये? रमा को अभी भेजती हूँ। शायद कहीं जाने को तैयार हो रही है।" और मिसेज़ वर्मा चली गयीं।

रमा आयी, चेहरे पर हल्के पाउडर की तह; ओठों पर लिपस्टिक की रंगत। अजन्ता के स्टाईल में बँधे बाल। कसी चोली मे अधकच्चरे उभार सजीव हो गये थे। जामुनी साड़ी में रमा खूब जँच रही थी। बोली, "माफ़ करना ज्ञान बाबू! शीला पुरी की कल शादी है न, वहीं जाना है!"

"टी पार्टी है क्या?"

"पार्टी तो नहीं, वैसे ही जाना है।"

"तो चाय पीकर जाना!" ज्ञान ने प्रार्थना की।

"चाय तो मैंने पी ली है, ज़रा जल्दी जाना है! अच्छा आप बैठें! पापा आते होंगे।" यह कहते हुए रमा कमरे से बाहर निकली। उसके अंगों में स्फूर्ति थी।

ज्ञान रमा के जाने के बाद बाहर आया। सोचने लगा कि पहले उसका चाय पर इन्तज़ार हुआ करता था और आज इतना रूखा व्यवहार! यह परिवर्तन क्यों?

तर्क ने सुझाया कि सहेली की शादी की उत्सुकता है, इसमें परिवर्तन की क्या बात है? मन शान्त हुआ।

दूसरे दिन यूनिवर्सिटी बन्द थी, पर दफ़्तरों में छुट्टी नहीं थी। सुबह ही मिस्टर वर्मा दातुन चबाते आये, "ज्ञान बाबू! आज तुम्हें ज़रा तकलीफ़ देनी है?"

"कहिए?" किताब बन्द करके ज्ञान बोला।

"आज तुम्हें छुट्टी है न, तनिक रमा को कनॉट सर्कस तक ले जाना।

उसने अपनी सहेली के लिए प्रेज़ेंट ख़रीदना है—वैसे तो अपनी माँ के साथ चली जाती, पर आज उसकी भी तबीयत खराब है।" मिस्टर वर्मा ने थूक फेंकते हुए कहा।

"क्यों मिसेज़ वर्मा को क्या हुआ?"

"होना क्या है, सारा दिन रसोई में घुसे रहने से हिन्दुस्तान की अस्सी फ़ीसदी औरतों को इस उमर में बीमारियाँ आ घेरती हैं। अच्छा तो दस बजे तक तैयार हो जाओगे न?"

"जी हाँ।"

मिस्टर वर्मा चले गये।

ज्ञान मिस्टर वर्मा के साथ की कोठी में एक कमरे में रहता था। शुरू-शुरू में जब उसे नौकरी मिली तो विश्वविद्यालय के किसी होस्टल में कमरा न मिला। बड़ी कठिनाई से इस शरणार्थी परिवार से उसने यह कमरा लिया था। अब उसे फ़ैलोज़ कोर्ट में स्थान मिल भी रहा था, पर न जाने कौन सा मूक आकर्षण उसे यहाँ खींचे था।

ज्ञान के कमरे में एक चारपाई, एक लिखने वाली बड़ी मेज़ तथा एक कुर्सी के सिवा कुछ न था। मेज़ पर किताबों का ढेर लगा था और चारपाई पर कपड़ों का।

नहाकर कमीज़ और पैंट तो ज्ञान ने पहन ली, पर कोट कहीं न मिल रहा था। सब कुछ उलट-पलटकर देखने के बाद ज्ञान ने जब एकाएक रज़ाई उठायी तो कोट को नीचे दबा पाया। ज्ञान ने फटककर कोट को पहन लिया और मिस्टर वर्मा की कोठी की ओर चल दिया।

रमा तैयार होकर अनमनी-सी दरवाज़े पर खड़ी ज्ञान के आने की प्रतीक्षा कर रही थी। वह बार-बार सोच रही थी कि जो ममी कह रही थी, क्या सच है। पापा ज्ञान से उसकी सगाई करने की सोच रहे हैं।

रमा को इस सम्बन्ध का प्रस्ताव उस नौसिखिये दर्ज़ी द्वारा सिली

कमीज़ का-सा लगा जिसमें स्पष्टतः कोई दोष नज़र न आये, परन्तु पहनने में जो आराम-देह न हो ! मगर प्रेज़ेन्ट लेने तो आज ज्ञान के साथ ही जाना था ।

ज्ञान आया । आते ही बोला, "माफ़ करना रमा, देर हो गयी, करता भी क्या, कोट खो गया था !"

"कोई बात नहीं, "कहकर रमा ज्ञान के साथ-साथ चलने लगी । रमा ज्ञान की ओर बार-बार परखती दृष्टि से देखती जैसे उसे कसौटी पर कस रही हो । ज्ञान की ओर देखते ही रमा के माथे पर बल पड़ गये और वह बोली—"प्रोफ़ेसर साहब, क्या आप यूनिवर्सिटी भी इसी तरह जाते है ?—ढिलकी हुई पैंट, बिना प्रेस के कोट और उखड़ी हुई चाल ।"

ज्ञान रमा का व्यंग्य न समझ सका हो, यह बात न थी, पर अपने स्वभाव की सरलता के कारण हँसकर बोला, "सब चलता है रमा ! तुम शायद जानती नही कि कपड़ों के बारे में मैं कितना ला-परवाह हूँ, यह कोट रज़ाई के नीचे दब गया था और प्रेस खराब हो गयी थी । मगर फर्क भी क्या पड़ता है—कपड़ों का काम है तन ढकना और यह कोट बखूबी अपना फ़र्ज़ अदा कर रहा है ?"

"तन ढकने की बात तो ठीक है, पर कपड़े ढंग से पहने जायँ तो हर्ज ही क्या है ! क्रीज़दार पैंट और प्रेस किया कोट पहनकर आदमी स्मार्ट लगता है ।" हल्की-सी स्मित-रेखा रमा के चेहरे की गोलाइयों म घुल गयी ।

"इस क्रीज़ के झंझट से बचने के लिए ही तो मैंने कार्ड्राय की पैंट सिलायी है ।" ज्ञान रमा के सामने अपना वास्तविक रूप रखना चाहता था ।

कनॉट प्लेस पहुँचे । ज्ञान की तरफ़ देखकर रमा को न जाने क्या सूझी, बोली, "आप मूँछें क्यों नहीं रखते ज्ञान बाबू ! आप के चेहरे

पर पतली मूछों की लकीर खूब जँचेगी।

आश्चर्य से ज्ञान ने पूछा, "मूँछें ? पर तुम्हें कैसे मालूम कि मेरे चेहरे पर मूँछें भली लगेंगी।

"वैसे ही कहा था।"

रमा कुछ देर चुप रही। ज्ञान ने कोई बात शुरू न की। फिर रमा ने एकाएक प्रश्न किया।

"क्या आप को बाल-रूम डाँस आता है ?"

"नहीं तो ? क्यों ?" ज्ञान की समझ में कुछ न आया कि आज यह प्रश्न क्यों किये जा रहे हैं।

सामने से एक अमरीकन बड़ी ललचायी आँखों से देखता चला आ रहा था। उसके ओठों में सिगरेट झूल रही थी। ज्ञान को उस युवक का आवारापन बुरा लगा। पर रमा उसकी ओर देखकर उसाँस भरती हुई बोली, "आप सिगरेट क्यों नहीं पीते ज्ञान बाबू ?"

"सिगरेट क्यों नहीं पीता ? इसलिए कि बिना सिगरेट पिये जी सकता हूँ—और यह कोई इतनी बढ़िया चीज़ भी नहीं जिसका आकर्षण अत्यधिक हो !"

"पर आजकल तो सब लोग पीते हैं।"

"तो शायद तुम्हें सिगरेट ....."

बीच में टोककर रमा बोली, "सिगरेट का धुआँ निकलते देखना, रिंग्ज़ बनते देखना अच्छा लगता है।" बात करते समय रमा की आँखों में एक अजीब मस्ती थी जैसे किसी कल्पना-लोक में खो गयी हो।

"हाँ यह तो ठीक है," बात टालते हुए ज्ञान बोला, "मगर आज प्रेज़ेन्ट के लिए क्या ख़रीदने का विचार है ?"

"आप ही सजेस्ट कीजिए।"

"मैं भला क्या सजेस्ट करूँगा, जब स्वयं प्रेज़ेन्ट देने में विश्वास

ही नहीं रखता। इन प्रेज़ेन्टों द्वारा सभ्य समाज, व्यक्ति की औक़ात तोलता है और मेरे विचार से......"

बीच ही में टोककर रमा बोली, "ज्ञान बाबू!" शब्दों में आग्रह था, "आप तो प्रत्येक बात पर स्पीचे देने लगते हैं, आप को अच्छे-अच्छे जोक्स नहीं आते?"

"जोक्स? नहीं!" ज्ञान के सामने से धुन्ध धीरे-धीरे साफ़ हो रही थी। ज्ञान ने रमा को टटोलने के लिए भेदती दृष्टि से उसकी ओर देखा और बोला, "कौन बताता है तुम्हें जोक्स?"

रमा सम्हली। उसे अपनी भूल महसूस हुई। अभी तक के सारे प्रश्न जैसे वह एक मूक शक्ति की प्रेरणा से करती जा रही थी। झुँझलाकर बोली, "बताता कौन है, बस यों ही पूछा था। कई जोक्स इतने अच्छे होते हैं कि हँसते-हँसते पेट दुखने लगता है।"

"हाँ! ठीक है।" ज्ञान समझ गया कि रमा बात टाल रही है। सो दुकानों की ओर देखकर बोला, "जानकी दास की दुकान से सब कुछ मिल जायगा, यहीं से कुछ ख़रीद लो।"

रमा को वह फूलदान पसन्द आया जिस पर ताजमहल बना था।

"कैसा है?" ज्ञान से सलाह ली।

"बुरा नहीं।"

रमा ने उसे ख़रीद लिया। बड़ी नज़ाकत और एक अदा से उसने रुपये अपने बटुए से निकाले। दस के नोट के साथ चमकते सफ़ेद काग़ज़ का एक टुकड़ा नीचे गिरा। रमा ने उसे नहीं देखा। ज्ञान की नज़र उस पर गयी। उसने उसे उठा लिया। वह एक फोटो थी—एक स्मार्ट युवक की तसवीर, जिसके ओठों पर मूँछों की पतली लकीर थी, जिसके हाथ में सिगरेट थी। जो शायद बात-बात पर जोक्स सुनाता होगा, जो पैंट की क्रीज़ और कोट की प्रेस का विशेष ध्यान रखता होगा और जिसकी चाल

में प्रेस होगी।

तस्वीर के नीचे लिखा था, "विद लव फ्रॉम सुरेन्द्र पुरी।"

ज्ञान के दिलो-दिमाग़ में जैसे तूफ़ान मच उठा, पर उसने अपने आप को सम्हाला। तस्वीर रमा की ओर बढ़ाते हुए उसने कहा, "तुम्हारे बटुए से यह तस्वीर गिर पड़ी थी।"

ज्ञान के हाथ में वह तस्वीर देखकर रमा इस तरह चौंक गयी जैसे चोरी करते हुए पकड़ी गयी हो। अपराधी की तरह भयभीत दृष्टि से रमा ने ज्ञान की ओर देखा। ज्ञान में अब रमा से नज़र मिलाने की शक्ति न थी।

वह हार चुका था।

दोनों वापस आ गये। रास्ते में किसी ने एक दूसरे से बात न की थी।

दूसरे दिन ज्ञान ने वह कमरा छोड़ दिया। रमा की प्रेम कहानी में उसने आपको महज़ एक अनावश्यक पात्र-सा महसूस किया।

एक लड़का एक लड़की

जब उसके घर का दरवाज़ा खटखटाता हूँ, तो प्रायः मुझे कदमों की हलचल सुनायी देती है; जैसे घबरायी हुई-सी वह अपना दुपट्टा ढूँढ रही हो।

रोज़ की तरह आज भी जब मैं उसके घर गया तो उसने दरवाज़ा खोला। खिले फूल-सा चेहरा; आँखों में चमक; गालों में खो जाती हुई स्मित-रेखा; उलझी हुई बालों की लट; 'घर पहनने वाली' कमीज़; घुटनों से ऊपर उठी हुई शलवार; लापरवाही से कन्धे पर रखा दुपट्टा और राख से लिपटे हाथ, जिन्हें जल्दी में धोना वह भूल गयी थी।

निमिष भर को मैं उसकी ओर देखता रहा। जी चाहता कि देखता ही रहूँ, परन्तु फिर ध्यान आता, कान्ता क्या सोचेगी और लोग क्या कहेंगे। मैंने सिर झुका लिया।

"नमस्ते मास्टर जी!"

"फिर वही ग़लती—" कुर्सी पर बैठते हुए मैंने कहा।

"ग़लती—" कान्ता चौंकी, जैसे अनजाने ही उसने बड़ा भारी अपराध कर दिया हो, "कौन सी ग़लती मास्टर जी?"

"यही, कि मैं मास्टर नहीं, एक मामूली क्लर्क हूँ! मुझे नाम से बुलाया करो।" कहने को कह दिया, किन्तु उसके मुँह से 'मास्टर जी' शब्द मुझे बहुत प्यारा लगता था।

"हुँ, यह भी कोई बात है, आप मुझे पढ़ाते हैं, सो मेरे लिए मास्टर जी हुए !" गर्दन एक ओर झुकाकर वह बोली। एकाएक राख से लिपटे अपने हाथों को देखकर भागती हुई बोली, "अरे, हाथ धोना ही भूल गयी !" और रसोई की ओर निकल गयी।

वापस आते समय अपनी किताबें भी उठा लायी। बोली, "मास्टर जी, क्या मैं प्रभाकर में पास हो जाऊँगी !'

"मन लगा के पढ़ोगी तो ज़रूर पास हो जाओगी।"

"ऊहुँ !" किताबें उसने मेज़ पर रख दीं और बोली, "नहीं, यदि आप पढ़ायेंगे तो पास हो जाऊँगी !—दो महीने पढ़ायेंगे न ?"

"हाँ हाँ, ज़रूर पढ़ाऊँगा—अच्छा अब अपनी किताब खोलो। कौन सी कविता हम पढ़ रहे थे ?"

"महादेवी की अन्तिम कविता। पर मास्टर जी, क्या वास्तव में महादेवी का विरह ईश्वर के वियोग में है ? मुझे लगता है, सब लौकिक जगत की बातें हैं। अपने प्रिय से अलग होने पर प्रत्येक व्यक्ति यही अनुभव करता होगा !"

मैं मुस्कराया और बोला, "तुम्हें कैसे मालूम !"

"मुझे सब मालूम है ?"

"अच्छा !—पर अपने कोर्स का भी कुछ मालूम है ?"

"वह आप बतायँगे !"

मैं मुस्कराया—"यह तो मान लिया, पर बाकी सब कुछ कैसे जान गयी ?"

कान्ता ने किताब से मुँह छिपा लिया। उसके पीछे से झाँकते हुए उसकी आँखें जैसे कह रही थीं बहुत सी बाते पढ़ी नहीं जातीं मास्टर जी, नारी स्वयं ही जान जाती है।

"आज पढ़ने का मूड नहीं दीखता—अच्छा, तो मैं चलता हूँ।"

और मैं उठने को हुआ।

"नहीं नहीं मास्टर जी, आप बैठें। यदि पढ़ूँगी नहीं तो भला पास कैसे होऊँगी।" और वह पुस्तक खोलकर बैठ गयी। मैं कविता समझाने लगा। यदि कोई पंक्ति उसके लिए कठिन होती मैं पूरे प्रयत्न से नये-से-नये उदाहरणों के साथ भाव स्पष्ट करता। वह एकटक मेरी ओर देखा करती। उसकी आँखों में चमक आ जाती। सराहना का भाव झलकता। और कहती, "आप कितना अच्छा पढ़ाते हैं, मास्टर जी!"

अपनी तारीफ़ सुनकर एक लापरवाह-सी मुस्कान मेरे चेहरे पर फैल जाती। और कभी-कभी मैं उठने को होता कि वह रसोई की ओर जाती, "रुकिए मास्टर जी, आज दुपहर हमने खीर बनायी थी, आप के लिए रखी है, खाते जाइए।"

बादाम और पिस्ते मिली रजत बर्कों से सजी प्लेट मेरे सामने आ जाती। चम्मच मुँह में डालकर मैं कहता, "बड़ी अच्छी बनी है। शायद तुमने बनायी है?"

कान्ता लजाकर मुँह नीचा कर लेती।

यदि पढ़ाते समय कभी देर हो जाती तो प्रायः वह कहती, "अब आप होटल से खाने की अपेक्षा जो रूखा-सूखा बना है, यहीं खा लें। पिता जी भी सैर करके आ जायेंगे और तब तक राकेश भी खेलकर स्कूल से लौट आयेगा।"

उसके आग्रह को टालने की शक्ति मुझमें न होती और मैं बैठ जाता। जब तक उसके पिता जी न आते, हम बातें किया करते! बातें करते हुए उसके चेहरे की भाव-भगिमाएँ देखना मुझे बहुत अच्छा लगता।

बाबू रामचरण कान्ता के पिता थे। मुझे बेटा कहकर पुकारते! हमारा भाई-बहन का नाता पक्का करने के लिए कह दिया करते,

"कान्ता बेटी अपने भाई के लिए तरकारी तो ले आ !" किन्तु न जाने क्यों हृदय बाबू रामचरण की बात का समर्थन न करता, जैसे मेरा मन कान्ता को बहन के रूप में स्वीकार करने के लिए तैयार ही न हो ! विवेक की ताड़ना देने पर भी हृदय न मानता।

किन्तु कहने-सुनने को मैं कान्ता का धर्म-भाई ही था।

आफिस में इतना थक जाने के बाद भी कान्ता का मूक आकर्षण मुझे ठीक समय पर बाबू रामचरण के घर पहुँचा देता। उधर मेरे सहृदय व्यवहार में कान्ता को प्रेम की झलक मिली। पानी के प्यासे को जैसे सरोवर मिल गया हो। जब कभी मैं उसकी ओर देखता, ऐसा जान पड़ता मानो उसकी प्यासी आँखें व्यथा की एक कहानी कह रही हों। वह कहानी जो कि मध्य वर्ग की प्रत्येक लड़की की आँखों में होती है। उस जीवन की कहानी जो नीरसता से परिपूर्ण है !

कान्ता मेरे पास बैठी पढ़ रही थी। हम कमरे में अकेले थे। उसका पाँव मेरे पाँव से छू गया। उसका चेहरा लाल हो गया और मै रोमांचित। न जाने क्यों एक अजीब-सी साध मन में जागी। जी चाहा कि उसे अपनी भुजाओं में कस लूँ और उसके माथे पर चोट के निशान को बार-बार चूमूँ। फिर अपनी उस पागल साध पर स्वयं ही झुँझलाया और एक घुटी-सी नज़र से मैंने कान्ता की ओर देखा। कान्ता पिछले दिन का पाठ सुना रही थी। कुछ ऐसा लगता, मेरे इतने निकट होते हुए भी वह मुझसे कोसों दूर है। जैसे हमारे बीच में 'धर्म-भाई' शब्द की एक बड़ी दीवार खड़ी है ! यह नाता, मुझ में उसे छूने मात्र के साहस को नष्ट कर चुका था।

फिर एकाएक विचार आया यदि कान्ता मेरे मन की भावना को जान गयी तो क्या वह मुझ से नफरत तो नहीं करेगी !– शायद नहीं। मुझे अपने क्वार्टर के सामने रहने वाली लड़की का ध्यान हो आया जो

अक्सर धूप सेंका करती थी। शायद वह प्रभाकर की परीक्षा के बाद कढ़ाई-सिलाई का काम सीख रही थी। सुबह-शाम उसे रसोई में काम करते देखता, और दुपहर भर वह धूप में लेटी रहती। उसका एक बड़ा भाई है, जो मेरी ही उमर का होगा। पर मैंने उसे कभी अपने भाई से बात करते नहीं देखा। तब मैं सोचा करता कि मध्य वर्ग की लड़कियों का जीवन भी मरुभूमि की तरह नीरस होता है, जहाँ कर्त्तव्य के अतिरिक्त कुछ नहीं! मगर अब मैं उस लड़की में परिवर्तन देखने लगा हूँ। कुछ दिनों से अब वह धूप में नहीं लेटती। उसके अंगों में स्फूर्ति आ गयी है और बासी चेहरे पर रौनक। अब कभी-कभी मुझे उसके हँसने की आवाज़ भी सुनायी देती है। आजकल उनके घर एक लड़का आया करता है। शायद उसका 'कज़न' है।

कान्ता का जीवन भी शायद उस लड़की की तरह नीरस होगा। कान्ता भी मुझे अपने भाई राकेश से कहीं अधिक चाहती है। वास्तव में वह भी मुझसे प्रेम करती है! वह मेरे मन के भावों को जानकर भी घृणा नहीं करेगी।

जब पहले दिन मैं बाबू रामचरण के घर आया था तो उन्होंने मुझे बेटा कहकर पुकारा था। और अब भी बातों बातों में कान्ता से कह देते हैं, "जा बेटी, अपने भैया के लिए कुर्सी तो ले आ!" परन्तु मैं कान्ता को बहन कह कर वह दूरी नहीं रखना चाहता। न जाने क्यों मेरा हृदय बाबू रामचरण की बात का समर्थन न करता। विवेक की ताड़णा देने पर भी न मानता!

मैं सोचने लगा कितनी विचित्र बात है कि उसे बहन पुकारने मात्र से मैं उसका धर्म-भाई बन जाता हूँ। बहन कहकर उसे प्रेम भी कर सकता हूँ। मुझे अपने कालेज के साथी हरीश की याद आयी जिसने जीवन के सारे अनुभव, जो एक पुरुष स्त्री के सहचर्य में पाता है, धर्म-

भाई बनकर पाये थे। सो क्या बिना इस सम्बन्ध के उनका प्रेम पवित्र नहीं हो सकता ? क्या एक लड़का और एक लड़की या भाई-बहन होते हैं और नहीं तो पति-पत्नि। इस बीच में क्या उनका और कोई सम्बन्ध नहीं होता।

कान्ता के पिता जी को इस बात की चिन्ता नहीं कि मेरे मन में क्या है ? जब तक मैं कान्ता को बहन पुकारता हूँ, वे निश्चिन्त हैं। उनके घर में आदर और सत्कार पाने के लिए मुझे अपने आपको, कान्ता और कान्ता के पिता जी को धोखा देना होगा।

और स्पष्ट रूप से कह दूँ तो बात यह है कि मेरा और कान्ता का वही सम्बन्ध है जो एक लड़के और लड़की में होता है। और अधिक सम्पर्क में आने के कारण यदि हम आपस में प्रेम करने लगें तो कोई-पाप नहीं करेंगे। यह तो एक स्वस्थ प्रेम का स्वरूप है। यह स्वाभाविक है। इस मिलन से दोनों के अभाव पूरे होते हैं।

परन्तु मैं अपने, इन भावों को जिह्वा पर नहीं ला सकता। मध्य-वर्ग के युवक का कर्त्तव्य है कि अपने मन में प्रत्येक भाव को दबा दे और इस प्रकार अपनी कुण्ठाओं को बढ़ाता चले।

यदि बाबू रामचरण से कह दूँ कि बहन कहकर भी मैं कान्ता को एक लड़की से ज्यादा कुछ नहीं समझता ! तो वे मुझे अपने घर से धक्के देकर निकाल देंगे। कदम न रखने देंगे। दुत्कार देंगे और धोखेबाज़ कहेंगे। नीच, पापी और चरित्रहीन कहेंगे। सिर्फ इसलिए कि मैं उन्हें धोखा नहीं देना चाहता।

मैं सोचने लगा कि आखिर वह दिन कब आयेगा, जब लड़कियाँ किसी लड़के से मिलने के लिए धर्म-भाई की आड़ न लेंगी। कुण्ठाओं को न बढ़ायेंगी। ठीक उस प्रकार से जैसे एक

लड़का एक लड़की से मिलता है। कुण्ठित प्रेम का स्थान स्वस्थ प्रेम लेगा। प्रेम करना पाप न समझा जायगा। दो स्वस्थ हृदयों में पवित्र प्रेम का भाव होगा।

जो मन में आये कहलें, किन्तु अब मैं निश्चय कर चुका हूँ कि मैं अपने आपको धोखा नहीं दे सकता! मैं कल बाबू रामचरण को साफ़-साफ़ कह दूँगा, "कान्ता मेरी बहन नहीं है, वह धीरे-धीरे मेरे सपनों पर छाती जा रही!"

दूसरे दिन जब कान्ता को पढ़ाने गया तो वह फिर अकेली थी। परन्तु आज बड़ी खुश नज़र आ रही थी। मेरे कुर्सी पर बैठते ही बोली, "पिता जी ने कहा है कि कल आप सुबह ही आ जायँ!"

"क्यों?"

"कल भैया दूज है न? मैं आप को टीका लगाऊँगी! आगे से मैं आपको 'भापा जी' कहकर पुकारूँगी!" वह इसलिए खुश थी कि इस सम्बन्ध के स्थापित हो जाने के पश्चात हम निश्चिन्त एक दूसरे को मिल सकेंगे।

चौंका और क्षण भर के लिए कान्ता की ओर देखता रह गया।

"आप इस तरह से मुझे क्यों देख रहे हैं? क्या आप की तबीयत खराब है? देखूँ, बुखार तो नहीं?" कान्ता ने अपना हाथ बढ़ाकर मेरा माथा छुआ।

मैंने आँखें बन्द कर लीं और ऐसे लगा, यदि एक भी क्षण यहाँ रुका तो शायद अपने आप पर काबू न रहे। मैं जल्दी से उठा और तेज़ कदम रखते हुए बाहर चला आया!

———

मिज़राब, कहानी और स्केचबुक

यह उन दिनों की बात है, जब मेरी उँगली में मिज़राब, दिमाग़ में कहानी और बग़ल मे स्केचबुक रहा करती थी। तब मुझ पर संगीतकार, साहित्यकार और चित्रकार, तीनों एक साथ बनने की धुन सवार थी। मैं सोचा करता, संगीत मेरा हृदय है, साहित्य मस्तिष्क और चित्रकला शरीर। कुछ ऐसा लगता कि संगीतमय हृदय से मैं अनुभव करता हूँ, तर्कशील साहित्यिक बुद्धि से सोचता हूँ और मेरी तूलिका सदा सौन्दर्य की सृष्टि में तत्पर रहती है। लगता, तीनो कलाओं ने मिलकर मेरे प्राणों का रूप धारण किया है।

उन दिनों मै एक भावुक विद्यार्थी था। महत्वाकांक्षा इतनी ऊँची थी कि आकाश भी नीचे झुक जाय। उत्साह इतना प्रबल कि पर्वत भी काँपने लगे। ज़िन्दगी में विश्वास और आँखों में सुनहले स्वप्न लिये मै जीवन-पथ पर चल रहा था। एक यात्री की भाँति, जिसका पाथेय था—मिज़राब, कहानी और स्केचबुक।

वे कॉलेज के दिन भी खूब थे। बढ़ी हुई दाढ़ी, ढिलकती पैंट, टूटा जूता और बिखरे बाल। यह सब मिल-जुल कर मुझ पर कलाकार की रंगत को और भी गाढ़ा कर देते। मै बरामदों में से गुज़रता, तो लड़कियाँ बहाने से मेरी ओर देखतीं। आपस में फुसफुसातीं, इशारा करतीं। यह सब मुझे भला लगता। लेकिन चाहते हुए भी उन

लड़कियों की ओर न देखता। जतलाना चाहता कि मैं किसी की परवाह नहीं करता, सदा अपनी कला में खोया रहता हूँ और यही मेरा जीवन है।

उन दिनों जब सितार पर रियाज़ करने बैठता, तो मिज़राब तारों को झंकृत करती। फिसलती हुई उंगलियाँ स्वर में राग-रागनियाँ भरतीं। सितार बजाते हुए कल्पना पंख फैलाती। मैं एक प्रसिद्ध संगीतज्ञ बन गया हूँ। सुधासिक्त आलाप, नयी गतें; तोड़ों में बिजली की गति और झाले में बीन-सी मस्ती। मैं सितार बजा रहा हूँ...... हिरनों के झुण्ड चौकड़ियाँ भरते हुए आ रहे हैं और उनके पीछे एक सौन्दर्यमयी स्वर्गीय वन देवी......वह मेरे निकट आ जाती है !... और रियाज़ करते हुए मेरे अनाड़ी हाथों से तार टूट जाते।

फिर मैं साहित्यकार बनने की ठानता। कहानियाँ! कहानियाँ! कहानियाँ! ज़िन्दगी के चप्पे-चप्पे पर मुझे कहनियाँ बिखरी नज़र आतीं। नयी-से-नयी भावनाओं को मैं कहानियों द्वारा प्रकट करना चाहता। कलम पीछे रह जाती, कल्पनाएँ बहुत ऊँची उड़ाने भरतीं। और मैं सोचने लगता कि आज तो कॉलेज की पत्रिका का ही सम्पादक हूँ, पर वह दिन दूर नहीं, जब एक प्रसिद्ध साहित्यकार बनकर हिन्दी-जगत में नाम पाऊँगा। अनेक कहानियों के संग्रह छपेंगे। हाथों-हाथ बिकेंगे। नर-नारी, युवक-वृद्ध, सब मेरी कहानियाँ पढ़ेंगे। आलोचना होगी—पैनी दृष्टि, नवीन शैली और ओजपूर्ण भाषा! प्रथम श्रेणी का नाटककार, उपन्यासकार और कहानीकार! देश की प्रादेशिक भाषाओं में अनुवाद छप रहे हैं।......लेकिन उसी समय पोस्टमैन एक लिफाफा देता है, मेरी एक कहानी वापस आयी है।......

और अब मैं चित्रकारों के-से अन्दाज़ में तूलिका पकड़कर अपने बनाये ईज़ल के सम्मुख खड़ा होता। चित्र अंकित करने का प्रयास

करता। मित्रों के लिए कई चित्रों की कापी करता। मोटी रेखाओं-द्वारा चित्रों में जान डालता। रंगों को गहरा या हल्का करके प्रभाव पैदा करता। और सोचता कि ज़िन्दगी भर इसी तरह रेखाओं और रंगों की दुनिया में खोया रहूँगा और एक दिन विश्व-विख्यात चित्रकार बन जाऊँगा। अनेक आर्ट गैलरियों में मेरे चित्र लगेंगे। मेरे चित्रों की प्रदर्शनी होगी।......फिर कॉलेज में होने वाली प्रदर्शनी के लिए एक चित्र बनाने में लग जाता। कुछ मौलिक बनाने का प्रयत्न करता घंटों जुटा रहता। किन्तु कितना अंतर होता मेरी कल्पना और तूलिका मे! और केनवस की कुरू.........ओफ़! बाल नोचकर रह जाता।

इन्हीं कल्पनाओं में डूबते-उतराते मैंने कॉलेज के दिन बिताये। सपने में कई बार मैंने उस महान संगीतज्ञ, विख्यात साहित्यकार तथा जगत-प्रसिद्ध चित्रकार के दर्शन किये।

किन्तु मेरे जीवन की पहली दुर्घटना उस दिन हुई, जब बी० ए० की परीक्षा का परिणाम निकला और मैं पास हो गया और कालेज ने जीवन के क्षेत्र में मुझे ढकेल दिया।

मिज़राब के सहारे ज़िन्दगी काटने की सोची। पिताजी को अपना इरादा बताया। बोले—हूँ? पागल हुआ है, क्या तुझे मीरासी बनना है! किन्तु मैं इतनी जल्दी टलने वाला न था। रियाज़ करता रहा। किन्तु उन्हीं दिनों बड़ी दीदी की शादी हो गयी। वह अपना सितार साथ ले गयीं। अब मेरे पास सितार न था, रह गयी थी केवल मिज़राब! और मेरी एक दुनिया डूब गयी।

सोचा, क्यों न साहित्य-सृजन को ही अपना जीवन बनाऊँ। किन्तु जब पिता जी के सामने अपना विचार प्रकट किया तो बोले—यह भी कोई काम है! काग़ज़ काले करना, अपना दिमाग़ ख़राब करना और

रद्दी की टोकरी भरना !—पिताजी ने इस प्रकार मुँह बनाया, जैसे कुनीन की कड़वाहट महसूस हुई हो—मुझे तुम्हारा घर बैठे-बैठे कहानियाँ लिख-कर वक्त ज़ाया करना पसन्द नहीं। नौकरी तालाश करो और अपनी ज़िन्दगी बनाओ। ए० जी० के दफ्तर में बीस पोस्टें निकलती है, आज ही एप्लाई कर दो !—पिता जी की आज्ञा के विरुद्ध चलने की मुझ में शक्ति न थी, सो दूसरे दिन से नौकरी की तलाश में निकल पड़ा।

और मेरी ज़िन्दगी की दूसरी दुर्घटना तब हुई जब मुझे ए० जी० आफ़िस में क्लर्की मिल गयी।

किन्तु स्केचबुक आज भी मेरे पास थी। जब कभी मौका मिलता, मेरी पेंसिल चलती-फिरती दुनिया की तस्वीरें उतारने लगती। बस का इन्तज़ार करते समय, दफ्तर के बाहर बैठे या होटलों में चाय पीते हुए मैं स्केच किया करता। सोचता, क्यों न रंगों की सहायता से जीवन में नयी बहार ले आऊँ। और मैंने निश्चय किया, बनूँगा तो आर्टिस्ट नहीं तो......

—भूखों मरने की सलाह न हो, तो आर्टिस्ट छोड़ जो मन में आये बन।—पिता जी मेरा यह विचार जानकर बोले—क्या उमर भर आवारों की तरह घूमते फिरोगे ? कभी यह सोचा है कि तुम्हें अपनी बहन की शादी करनी है, अपना घर बसाओ, कुछ दहेज़ आये जिससे तुम्हारी बहन की शादी हो सके।

और मेरी जिन्दगी की तीसरी दुर्घटना जब हुई जब मैने अपना घर बसाया और मेरी कल्पना की रानी साकार रूप धारण कर मेरे घर में अवतरित हुई—गृह लक्ष्मी के रूप में, मेरी धर्म पत्नी बनकर !

**

और अब—अब उगलियों में मिज़राब, दिमाग़ में कहानी और बग़ल में स्केचबुक नहीं होती। अब तो जनाब, उँगलियों में होता है थैला, दिमाग़ मे मसालों की सूची और बग़ल में कल्पना-देवी जी का उपहार मुन्ना !

अपने बस का नहीं

"यार हसीन तुम भी कम नहीं, पर जाने क्यों छोकरियाँ तुम्हारी ओर देखती ही नहीं।" नरेश ने अपने रोमांस की कहानी समाप्त करते हुए कहा। मैं झेंप गया।

लूथरा ने उसी क्षण एक खोखला क़हक़हा लगाया और अपने चपटे नाक पर काले फ्रेम वाला चश्मा सम्हालकर बोला, "यदि मेरी शक्ल तुम्हारे जैसी होती तो आज क्वीन्ज़वे की सारी छोकरियों को अपने पीछे लगा लेता।"

"और मुझे तुम्हारी तरह लिखना आता, तो सच कहता हूँ, बायरन को भी मात कर दिखाता।" हमारे चौथे साथी जैतली ने एक्टराना लहजे में कहा।

नरेश कुछ सोचकर बोला, "शायद तुम भीरू हो। लड़कीके सामने शर्माते हो! मेरे यार छोकरी फँसाने के लिए आदमी को बोल्ड होना चाहिए और......

उसी क्षण सामने से एक युवती गुज़री। सब उस ओर देखने लगे और बात टल गयी।

किन्तु मेरे दिमाग़ में यह बात पैठ गयी। मैं सोचने लगा कि लड़कियाँ मेरी ओर आकर्षित क्यों नहीं होतीं। मै रोमांस से वंचित क्यों हूँ। नरेश यद्यपि (बी० ए० फ़र्स्टइयर) थर्ड ईयर का विद्यार्थी है, कई

लड़कियों को जानता है और मैं (बी० ए० फ़ाइनल) फ़ोर्थ इयर में होते हुए भी एक रोमांस तक नहीं कर सका। सोचा—सम्भवतः लड़कियों में लज्जा की भावना अधिक होती है, इसलिए लड़कों को ही आगे बढ़ना होता है। पर मैं तो डरपोक हूँ। किसी लड़की से बात क्या करूँगा। उसके पास आते ही चेहरा अंगारों की तरह तपने लगता है और ज़बान को ताला लग जाता है—भला ऐसे भी कभी रोमांस हो सकता है!

बचपन की एक बात याद आयी। पड़ोस में रहने वाली राजो मुझे कितना चाहती थी। खेल-खेल में जब मैं राजा बनता तो वह रानी बनने को उत्सुक होती। अपने कमरे में अकेला बैठा होता, तो दबे पॉव मेरे सामने आकर बैठ जाती। चुपचाप मेरी ओर देखा करती। मैं पूछता, "राजो, क्या देख रही हो?"

"कुछ नही!" वह मुस्कराती और चली जाती। शायद वह जानती थी कि प्रेम क्या होता है, पर मै तो मूर्ख था, मूर्ख! कुछ भी न जानता। आज मुझे अपने बचपन के उस व्यवहार पर क्रोध आ रहा था। जब रोमांस का मौका आया तो मैं चूक गया। यदि आज राजो मिल जाय तो फिर रोमास...पर उसकी तो शादी हो गयी है।

अपने मित्रों से छुट्टी लेकर बस स्टैंड पर अनमना-सा पहुँचा। 'क्यू' में मेरा पॉचवा नम्बर था। मेरे बाद एक लड़की आ खड़ी हुई, सोलह-सत्रह साल की युवती, त्वचा में ताज़गी और चमक, तीखे नक्शों में आकर्षण, खड़े होने की अदा में नाज़! अकेली थी और बिलकुल मेरे पास खड़ी थी, मैं सोचने लगा कि आज तो भगवान मेरी बोल्डनेस की परीक्षा लेना चाहते हैं।—और रोमांस स्वयं ही चलकर मेरे पास आ गया है। अब तो सब कुछ अपनी हिम्मत पर निर्भर है।

पर—रोमांस शुरू कैसे किया जाय? पहला रोमांस और एक लेखक का—कितनी महत्वपूर्ण घटना है, सो बहुत सोच-समझकर आगे

बढ़ना चाहिए। मगर अगला पाँव मैंने पीछे खिसका लिया जिससे उस तरुणी के और भी नज़दीक पहुँच जाऊँ।

तो—उससे बात शुरू की जाय!

पर कैसे?

पूछूँगा,—आप कहाँ जायँगी।

ठीक है! तो अब पूछ डालूँ—

—पूछ लूँ! मगर मन के शब्द ज़बान पर ही नहीं आते। मुझे बोल्ड बनना चाहिए, नहीं तो इतना नज़दीक आकर भी रोमांस का मौका हाथ से निकल जायगा। यदि बस जल्दी आ गयी तो अपना-सा मुँह लेकर रह जाऊँगा। सो अब अवश्य पूछ लेना चाहिए। मैंने उसकी ओर देखा। वह चौराहे की ओर नजर गड़ाये थी जहाँ से मुड़कर बस इधर आती है। हिम्मत की और, बोला, "जी...जी...आप—आप कहाँ जायँगी?"

"निज़ामुद्दीन!" उसी ओर देखते हुए उसने उत्तर दिया।

ऐसी रुखाई! एक महान (भावी) लेखक के रोमांस का इतना भद्दा आरम्भ! जी चाहता था कि अब उसकी ओर देखूँ भी नहीं, पर रोमांस कैसे होगा? किताबी ज्ञान ने सुझाया कि स्त्रियाँ शुरु-शुरू में रूखी ही होती हैं, घबराना नहीं चाहिए। ख़ैर, जो भी हो, यह तो निश्चित था कि आज बोल्डनेस की कमी से रोमास का मौका हाथ से नहीं जाने दूँगा।

मस्तिष्क की सारी शक्तियों को यह सोचने में लगा दिया कि अब अगला 'स्टेप' क्या हो। विचार आया, बस आये, कंडक्टर केवल पाँच व्यक्तियों को ले जाने को राज़ी हो और तब मुझे अपनी उदारता प्रदर्शित करने का अवसर मिले। मैं झट कह दूँगा, "आप पहले चली जायँ, मैं, दूसरी बस में आ जाऊँगा।" वह 'धन्यवाद' कहेगी और—

और चली जायगी याने रोमास का आधार चला जायगा और मैं बस स्टैंड पर अपनी उदारता को याद करता 'बोर' होता रहूँगा। मन ने सुझाया—अरे नहीं! 'बोर' होने की क्या बात है। इस प्रकार मैं रोमांस का बीज डालूँगा। वह मुझे फिर मिलेगी। कृतज्ञता से मेरी ओर देखेगी, मुस्करायेगी, बात-चीत होगी। और फिर क्या है, समझिए कि रोमांस शुरू हो गया।

बस आयी, पर केवल एक सवारी लेकर चली गयी। कल्पनाओं का महल ढेर हो गया।

अब क्या हो? मैं सोच ही रहा था कि फिटफिटिया चलाते सरदार जी सामने आये और बोले, "निज़ामुद्दीन—जंगपुरा! निज़ामुद्दीन—जंगपुरा!" विचार आया कि अपने पीछे खड़े रोमास के आधार से पूछ ही लूँ, देवी जी, क्या आप रिक्शा में चलना पसन्द करेंगी। किन्तु मेरे पूछने से पहले ही वह युवती मोटर-रिक्शा पर जा विराजी। रोमास का आधार हाथ से निकलता देख, आव सूझा न ताव, मैं भी उस ओर लपका और साथ की सीट पर जा बैठा। यही ग़नीमत है कि उसी समय आगे की सीटें भर गयीं, नहीं तो अगली सीटें खाली रहने पर एक 'भद्र' पुरुष का किसी महिला के साथ जा चिपकना भला नहीं लगता।

मेरी भावी प्रेमिका याने वह अपरिचित लड़की एक कोने में अपनी कमीज़ और सलवार को समेटे इस प्रकार बैठी थी, जैसे कोई ब्राह्मणी अछूतों में घिरी हो। उसकी आँखें सामने की सड़क पर गड़ी थी। भूलकर वह भी बायीं ओर याने मेरी तरफ़ न देखती, पर इधर मेरी आँखें थीं कि मन के बहुत समझाने पर भी न मानतीं। कभी सड़क की तरफ़ देखता और कभी दायीं तरफ़, कभी बायीं ओर देखने लगता। मतलब यह कि मन का चांचल्य आँखों को नचाये था।

अब मुझे ज़रूर कोई बात करनी चाहिए, मगर क्या बात करूँ ? कुछ समझ में नहीं आता। उसके हाथ में किताब है। अवश्य किसी कॉलेज की छात्रा होगी।

सो क्यों न पूछा जाय—आप कौन से कॉलेज में पढ़ती हैं ?

वह कालेज का नाम बतायेगी और फिर पूछूँगा—आप कौन सी क्लास में पढ़ती हैं ?

क्लास बताने पर सवाल होगा—आपने कौन से विषय लिये हैं ?

अनेकों प्रश्न दिमाग़ में घूमने लगे, परन्तु पूछने का साहस न होता।

— यदि उसने टके-सा जवाब दिया—आपसे मतलब ? और यदि उसने जवाब ही न दिया, और दिया तो मुँहतोड़ जवाब दिया—आप..... तो भला क्या उत्तर दूँगा।

इसमें घबराने की क्या बात है, साफ़-साफ कह दूँगा—कुछ नहीं, योंही पूछा था ! असल में मैं भी कॉलेज का छात्र हूँ न ?

—यदि उसने कुछ कहने से पूर्व ही नकद रसीद कर दिया तो—? भावी 'महान लेखक' के रोमांस का जनाज़ा निकल जायगा।

नहीं, ऐसा कभी नहीं हो सकता। मेरे किताबी ज्ञान ने सुझाया कि युवतिय भी युवकों से बात-चीत करने के लिए उतनी ही उत्सुक रहती हैं जितना कि हम—युवक

उसने मेरी ओर देखा। मेरा साहस बढ़ा। वह भी मुझ से बात करना चाहती है। वह भी आकर्षित है, मेरा सोचना ठीक है। पर, यह क्या, उसने तो ठोढ़ी से नीचे का खिसकते दुपट्टे को सम्हालने के लिए चेहरा इधर किया था। उसकी आँखें तो सड़क पर जमी थीं। दोस्त कहते हैं कि मैं हसीन हूँ, पर इन देवी जी को मुझ से कहीं हसीन यह सड़क दीख पड़ती है, जिस पर अपनी आँखें बिछाये हैं। निज़ामुद्दीन

नजदीक आ रहा है, यदि रोमांस करना है, तो जल्दी ही अगला स्टेप लेना चाहिए। मन में बेचैनी हो रही थी, कहीं यह मौका भी यों ही हाथ से न निकल जाय। मैंने नरेश की अनेक रोमांस-कथाओं को याद किया—उसने एक बार बताया था कि हाथ का स्पर्श लड़की को वश में कर सकता है। उसने डाइनिंग टेबल के नीचे कई बार अपनी प्रेमिकाओं के पाँव दबाने की बात कही थी। "अवसर मिलने पर आग्रह से लड़की को चूम लेना चाहिए—और उसके बाद समझो लड़की तुम्हारी !" नरेश अपने मित्रों को कई बार यह नेक सलाह दे चुका था।

इण्डिया गेट पीछे रह गया था। वेल्ज़ली रोड से हम निज़ामुद्दीन की ओर जा रहे थे। बत्तियाँ दूर-दूर लगी हुई थीं। सड़क सूनी थी। नरेश की राय पर चलने का यह सुनहला मौका है।

तो—क्या करूँ ? वह तो मेरी ओर पीठ किये बैठी है। सम्भवतः मेरी आँखों के अवारापन से वह नाराज़ हो गयी होगी। किन्तु आज तक मेरी शराफ़त से कोई लड़की खुश भी तो नहीं हुई !

ख़ैर, जो भी हो, मैंने अपने मन में स्कीम पूरी बना ली। पहले अपनी सीट पर धीरे-धी सिखकता हुआ उसके समीप जाऊँगा। उसके पाँव को हल्के-से छुऊँगा। यदि वह कुछ न कहेगी तो और दबाऊँगा। उसके दुपट्टे को हल्के-से खींचूँगा, फिर भी उसने कुछ न कहा तो कन्धे पर हाथ रखूँगा—और—और झटके से अपनी तरफ खींचकर चूम लूँगा। और समझो कि लड़की अपनी ! रोमांस शुरू।

मुझे क्रोध आ रहा था उन सरदार जी पर जो इतना तेज़ चला रहे थे फिटफिटिया को ! सोचा मुझे भी जल्दी करनी चाहिए। यहाँ तो अँधेरा है, कुछ पता न चलेगा। मैं ज़रा-सा उसकी ओर बढ़ा, पाँव

को भी धीरे से उसके पाँव के पास ले गया। किन्तु इतना करने से मेरा दिल धड़कने लगा। साँस फूल गयी। मैं उसके पाँव पर पाँव रखने की हिम्मत सँजो रहा था और पाँव उठाया ही था कि आगे की सीट से एक व्यक्ति ज़ोर से छींक दिया। मैं सहम गया। झुँझला कर रह गया। अपशकुन! मैं यदि अपशकुनों की चिन्ता करने बैठा, तो यह रोमांस का मौका भी हाथ से गया समझो। पाँव से नहीं, अब हाथ से छूने का प्रयत्न करूँ! लापरवाही से उसे छूते हुए सीट के पीछे हाथ रखने की कोशिश करूँ! और यदि उसने 'माईंड' न किया तो उसकी पीठ पर हाथ रखूँगा। हाथ बढ़ाने से पहले ही दिल धौंकनी की तरह धक-धक करने लगा। बड़ी हिम्मत से मैंने उसे छूते हुए हाथ सीट के पीछे रखा। अपनी कामयाबी पर खुशी हुई। मैंने सोचा—अब हाथ पीठ पर धीरे से रखूँ, रखूँ .....

.. कि आगे की सीट वाला एक व्यक्ति ठहाका मार हँस पड़ा। मुझे कुछ ऐसा लगा जैसे वह मेरी मनोभावनाओं को भाँप गया हो और हँस रहा है। मेरा हाथ वहीं-का-वही रह गया।

एकाएक मैं मोटर रिक्शा की खट-खट के प्रति सचेत हो उठा और सोचने लगा कि फिटफिटिया की इस फिट-फिट में भी कभी रोमांस हो सकता है? कदापि नहीं!

ब्रेक लगी और मोटर रिक्शा रुकी।

"निज़ाम्मुद्दीन आ गया है बीबी जी!"

मेरे पास बैठी युवती नीचे उतरी। मुझे कुछ ऐसा लगा जैसे मुसीबत टल गयी हो। न रोमांस का आधार रहेगा और न ही रोमांस की चिन्ता।

** ५४

असल बात यह है (अब सोचता हूँ,) रोमांस करना अपने बस का नहीं।

शायद मेरे दोस्त ठीक कहते हैं— मै नम्बरी डरपोक हूँ, रोमांस करना मेरे बस का नही

रागी बाबा

ज़िला होशियार पुर में टांडा, उरमर, और अहियापुर तीनों गाँव एक दूसरे के निकट बसे हुए हैं। इन गाँवों के बीच, ज़मीन का का एक टुकड़ा ऐसा है, जिसे ज़मींदार मुज़ारों को नहीं देते और जिस पर किसान हल चलाने को राज़ी नहीं।

यहाँ रागी बाबा की समाध है। रात को लोग समाध पर दीये जलाते हैं। प्रत्येक रविवार को कीर्तन होता है। यहाँ रहने वालों का विश्वास है कि कीर्तन से रागी बाबा की आत्मा को शान्ति मिलती है। उनकी मृत्यु का कारण बनकर जो अपराध यहाँ के लोगों ने किया था यह उसका प्रायश्चित है।

आस-पास के अनेक गाँवों से आने वाली पगडंडियों के संगम के कारण यह स्थान एक तीर्थ-सा बन गया है। उन दिनों भी तो यह स्थान तीर्थ था—संगीत का तीर्थ!

जहाँ आज यह समाध है, उन दिनों एक झोपड़ी थी। रागीबाबा इसमें रहते। झोपड़ी के सामने एक उठान थी। इसे रागीबाबा स्वयं लीपते और आटे में मिले रंगों से इस पर फूल अंकित करते।

साँझ होती। सूरज डूबता। थके-माँदे किसान अपने घरों की ओर चल देते। प्रतीक्षा में बैठी पत्नियों के चेहरे कमल से खिल जाते। घर पहुँचते ही उनके बच्चे घुटनों से लिपट जाते। पत्नियाँ चूल्हे के पास

बैठकर रोटी सेंकती।

खाना आदि खाकर गाँव के सब लोग, रागीबाबा की मढ़ी की ओर चल देते। कई हाथ में हुक्का लिए होते, कई बच्चों को कन्धों पर चढ़ाये। बूढ़ा हो या जवान, युवक हो या युवती, बाबू हो या दुकानदार—सब रागीबाबा की मढी के पास इकट्ठे हो जाते।

रागीबाबा भली-भाँति जानते थे कि रोज वे लोग संगीत सुनने ही आते हैं, परन्तु जब तक कोई दो-चार बार आग्रह न करता, रागी बाबा गाना न शुरू करते। रोज कहने का काम वैद्य जी के जिम्मे था। रागी बाबा अपना गीत शुरू करते। एक तारे पर उँगली थिरकने लगती, मंत्रमुग्ध जन-समूह मस्ती की तरंगों में डुबकियाँ लेने लगता। वातावरण में स्वर लहरी का सागर ठाठें मारने लगता। ज्यों-ज्यों सुनने वालों की संख्या अधिक होती, त्यों-त्यों रागी बाबा का जोश बढ़ता। गला थक जाता। नसें फूल जातीं। पर न जाने कौन-सी मूक प्रेरणा उन्हें गाते रहने को बाधित किया करती।

गर्दन पर लहराते सफेद बाल और धवल दाढ़ी में रागी बाबा के व्यक्तित्व का अपना ही महत्व था। गाढ़े के वस्त्र पहनते। लम्बा चोगा और तहमत उनके शरीर पर खूब फबता। तन पालने को अन्न आस-पास के गाँवों वाले दे जाते। और आत्मा का भोजन—संगीत—वे बाँट कर खाते।

रागी बाबा को मीरा, सूरदास, कबीर और गुरु नानक के अनेक पद याद थे। उन महान् कवियों की रचनाओं में उन्होंने संगीत के द्वारा नया जीवन भर दिया था।

एक दिन शाम को एक मोटर उनकी झोपड़ी के सामने आकर खड़ी हुई। रागी बाबा जानते न थे कि वे लोग क्यों आये हैं? शायद मेरा गीत सुनने आये हैं; रागी बाबा के मन में यह विचार कौंधा।

पर वे तो आस पास की जमीन देखकर ही चले गये। मन में शका हुई—कहीं सेठ अमीचन्द ने यह जगह बेच न दी हो!

—नहीं, नहीं, वह ऐसा नहीं करेगा। बरसों से जो ज़मीन नहीं बेची भला आज क्यों बेचने लगा। मुझे भ्रम हुआ है, वे लोग तो घूमते-फिरते सैर करने आये होंगे। मैं उल्टी सीधी बातें सोच रहा हूँ।

मन को बहुत समझाने पर भी रागी बाबा को सतोष न हुआ।

उसी रात सपना आया वे प्यासे हैं। सारे गाँव में उन्हें कोई पानी तक नहीं पूछता। ओह! कितना अन्याय है। जिनके लिए वे सदा अमृत की वर्षा करते रहे, वही लोग आज दो घूँट पानी भी नहीं पिलाते। एकाएक रागी बाबा अपनी चारपाई पर चौंक कर बैठ गये। घबरा गये। पर वह तो सपना था!

दूसरे दिन से रागी बाबा की झोपड़ी के सामने की जमीन पर काम करने के लिए अनेकों मज़दूर आ गये। तम्बू आया और एक मशीन आयी। एक ट्रक भर कर कुर्सियाँ आयीं। रागी बाबा आश्चर्य्य-चकित थे। उनकी भूमि पर यह क्या होने जा रहा है? वे जाकर मशीन के अधिकारी से पूछना चाहते थे—किस की आज्ञा से यह मशीन लगायी जा रही है? परन्तु विचार आया, मैं कौन होता हूँ पूछने वाला? जमीन मेरी नहीं सेठ अमीचन्द की है। उसे पूरा अधिकार है जो मन में आये करे। यदि आज तक दया करके उसने मेरी झोपड़ी को उठवाया नहीं, तो इसका मतलब यह नहीं कि जमीन मेरी हो गयी।

टीन की चादरों का कमरा बनाया गया था। उसमें मशीन लगायी जा रही थी। पर्दे खींचे जा रहे थे। गाँव के बच्चे तमाशा देखने आ जुटे थे।

रागी बाबा अपनी झोपड़ी में आ गये। चुपचाप बैठ गये। जैसे कुछ हुआ ही नहीं।

दिन बीत गया, साँझ हुई, रागी बाबा बाहर निकले। तम्बू खड़े किये जा चुके थे। रागी बाबा पास गये, हिम्मत करके पूछा, "यहाँ क्या होने जा रहा है?"

"टूरिङ्ग टॉकी लगेगी—टूरिङ्ग टॉकी!"

"वह क्या होती है?"

"यहाँ रोज सिनेमा होगा।"

"सिनेमा?" रागी बाबा को कुछ समझ न आया।

तेल से चुपड़े हुए बालों को पीछे करते हुए वह व्यक्ति जोर से हँस दिया, "गवार कहीं के! यह भी नहीं मालूम, सिनेमा किसे कहते हैं।—अरे बाबा पर्दे पर ज़िन्दा तस्वीरें नाचा करती हैं। गाना गाती हैं, हँसती हैं, खेलती हैं।"

बायीं आँख बन्द कर और अंगुलियों से छल्ला बनाकर वह फिर बोला, "वह-वह चीज़ें पर्दे पर देखोगे कि बुढ़ापे में भी जवानी का जोश आ जाय। सुरैया और मुकेश के गाने, वैजन्तीमाला का नाच, सब कुछ पाँच आने में देखने को मिलेगा।"

रागी बाबा चुपचाप सुनते रहे। उसकी अवारा बातें उन्हें बुरी लगीं। परन्तु पर्दे पर नाच आदि की बात उनकी समझ में ना आयी। शायद वहाँ कोई बाईस्कोप लग रहा है। शहर जाने वाले सब लोग उसे देखकर आते थे।

पाँच बजते ही रागी बाबा की झोपड़ी के सामने टूरिङ्ग टॉकी में रिकार्ड बजने शुरू हो गये। इतना ऊँचा स्वर कि सारे गाँव भर में छा जाय। रागी बाबा हैरान थे कि मशीन से भी इतनी ऊँची आवाज निकाली जा सकती है। उन्हें अपनी आवाज पर नाज़ था। वे समझते कि जितनी ऊँची आवाज मेरी है, शायद आस-पास के इलाके तक कोई उतने ऊँचे स्वर से नहीं गा सकता, पर आज यह छोटी सी मशीन

जैसे उन्हें चुनौती दे रही थी। उनके अहम् को धक्का लगा। झोपड़ी से बाहर आये। बहुत से लोग इकट्ठे थे। परन्तु सब की नजरें सिनेमा की तस्वीरों पर थीं। रागी बाबा की ओर किसी का ध्यान भी न गया। छै बजे तक अच्छा-खासा जमघट इकट्ठा हो गया। सब लोग तस्वीरें देखते, पाँच आने का टिकट लेकर भीतर चले जाते।

यह वह समय था जब रागी बाबा अपना गीत आरम्भ करते। आज वे अकेले उस उठान पर बैठे थे। उनके पास कोई भी नहीं था। रिकार्ड का ऊँचा स्वर जैसे उनके आत्मविश्वास पर चोट पहुँचा रहा था। न जाने क्या सूझी, बैठे बैठे उन्होंने ऊँचे स्वर से गाना आरम्भ कर दिया। रिकार्ड के स्वर से वह ऊँचा गा सकते हैं और भी ऊँचा। परन्तु उनका स्वर टूरिङ्ग टॉकी के आस-पास के शोर में दब गया।

रागी बाबा अपनी सम्पूर्ण जीवन-शक्ति ऊँचा स्वर निकालने में लगा रहे थे। गले की नसें फूल रही थीं। आँखों पर जोर पड़ने की वजह से पानी निकल रहा था। माथे पर पसीने की बूँदे जमा हो गयीं

उसी समय नियम के अनुसार वैद्य जी आ पहुँचे। रागी बाबा को इस तरह अकेला देख भागते हुए उनके पास गये। "रागी बाबा, रागी बाबा, आप क्या कर रहे हैं? बन्द कीजिए।" वैद्य जी बोले। रागी बाबा को कुछ भी सुनायी न दिया। वे अब भी गा रहे थे। बहुत ऊँचा! और ऊँचा!

रिकार्ड बन्द हुआ। गाँव भर का ध्यान रागी बाबा के गीत की ओर आकर्षित हुआ। इतनी तीखी और ऊँची आवाज़ उन्होंने पहले कभी न सुनी थी।

फटी-फटी आँखों में से आँसू बह रहे थे और विक्षिप्तों की भाँति रागी बाबा गाते चले जा रहे थे।

"बन्द करो रागी बाबा, अपना गीत बन्द करो।"

वैद्य जी चिल्ला रहे थे। सिनेमा देखने आये हुए सब लोग हैरानी के साथ रागी बाबा को देख रहे थे। वे न जानते थे कि रागी बाबा को क्या हो गया है।

केवल वैद्य जी जानते थे, यदि रागी बाबा पाँच मिनट और इसी तरह गाते रहे तो उनके संवेदन-सूत्रों पर इतना जोर पड़ेगा कि सम्भवतः दिमाग़ की नाड़ी ही फट जाय। और—आगे की कल्पना कर वे भयभीत हो गये।

कुछ ही क्षण बाद रागी बाबा बेहोश होकर लुढ़क गये। दो चार व्यक्तियों की सहायता से वैद्य जी रागी बाबा को झोपड़ी के अन्दर ले गये। चारपाई पर लिटाया। मुँह पर ठंडे पानी के छींटे दिये। पाँव के तलुवे सहलाये।

रागी बाबा ने आँख खोली। वैद्य जी को देखकर बोले—"मैं कहाँ हूँ? ओह, वैद्य जी? आप मेरा गीत सुनने आये हैं।

वैद्य जी की आँखें डबडबा आयीं और बोले, "हाँ रागी बाबा मैं आपका गीत ही सुनने आया हूँ। पर इस समय आपकी तबीयत अच्छी नहीं।"

"तबीयत अच्छी नहीं? मशीन से मै कही ऊँचा गा सकता हूँ? मेरे मुकाबिले में कौन गा सकता है।" रागी बाबा के ओंठ काँप रहे थे।

"रागी बाबा आप चुपचाप आराम कीजिए। आपकी तबीयत अच्छी नहीं।"

"भला यह कैसे हो सकता है। आप मेरा गीत सुनने आये हैं। मेरे मेहमान हैं। मै आपको बिना गीत सुनाये कैसे भेज सकता हूँ। मेरा एक तारा पकड़ाइये। मै अभी आपको गीत सुनाता हूँ।" रागी

बाबा चारपाई पर बैठे गये।

"आप चुपचाप लेटे रहिए राग़ी बाबा मै गीन फिर कभी सुन लूँगा।"

बाहर देखकर रागी बाबा चौंके और बोले, "यह क्या, अँधेरा हो गया है और मैं अन्दर बैठा हूँ। लोग मेरा इंतज़ार कर रहे होंगे। मेरे गीत की प्रतीक्षा कर रहे होंगे। आप उन्ही का संदेशा लेकर आये है न वैद्य जी ?—गीत सुनाऊँ ? रोज तो गीत सुनते हैं आप लोग। फिर भी थकते नहीं। अच्छा आप लोगों का अनुरोध टाल कैसे सकता हूँ। चलिए !" रागी बाबा उठने को हुए।

वैद्य जी ने उन्हें बैठाते हुए कहा, "आप चुपचाप बैठिए। मै सब लोगों को कहे देता हूँ आज आपकी तबीयत ठीक नहीं है। गा न सकेंगे।"

"गा क्यों नहीं सकता ! मैं ज़रूर गाऊँगा। नहीं तो बेचारे निराश हो जायेंगे।"

"रागी बाबा ! आज आपको बाहर नहीं जाना है। गीत नहीं गाना है। मेरी बात माननी ही होगी। आपका शरीर तवे की तरह तप रहा है।"

"अच्छा जो आप कहते हैं मान लेता हूँ। पर मेरा गीत सुने बिना बाहर इकट्ठे हुए लोगों को घर जाना पड़ेगा। कह दीजिए उन्हें जाकर।"

"अच्छा मैं कह आता हूँ। वैद्य जी बाहर गये। सिनेमा शुरू हो चुका था। झोपड़ी के सामने की जमीन खाली थी। वैद्य जी की आँखों में आँसू भर आये। रागी बाबा को जो सदमा पहुँचा था उसे केवल वैद्य जी ही जानते थे। आँखे पोंछ कर भीतर आ गये और बोले, "मैंने कह दिया है कि आज आप गा नही सकेंगे।"

"किसी ने कुछ कहा नही ?" रागी बाबा ने प्रश्नसूचक मुद्रा के साथ वैद्य जी की ओर देखा। वैद्य जी समझदार थे। बात समझ गये। बोलो, "हा, कुछ लोग कह रहे थे कि हम गीत जरूर सुनेगे, पर मैंने उन्हें समझा-बुझाकर वापस भेज दिया है।

"रोज मेरा गीत सुने बिना उनको चैन नहीं आता।"

"आपके संगीत में जादू जो है।"

रागी बाबा की आँखों में चमक आ गयी और चेहरे पर मुस्कराहट।

"पर अब आप सो जाइए। आपको आराम की आवश्यकता है।" वैद्य जी बोले।

इसी तरह रोज़ साँझ होने से पहले वैद्य जी आ जाते। रागी बाबा रिकार्डों के अश्लील गीतों की निन्दा करते। वैद्य जी हामी भरते हुए सिर सिला देते और जब रागी बाबा बाहर आने की बात करते तो वैद्य जी उन्हें समझा बुझा कर झोपड़ी में बैठाये रखते। बाहर आकर लोगों को जाने के लिए कहने का अभिनय करते।

एक दिन वैद्य जी समय पर न आ सके। जब वे झोपड़ी के पास आये तो देखा रागी बाबा उठान पर बैठे जोर-जोर से चिल्ला रहे हैं।

"अब किसी को मेरे गीत नहीं चाहिएँ—नहीं चाहिएँ।" वैद्य जी से रागी बाबा बोले, "वैद्य जी आप तो मेरा गीत सुनने आये हैं, कह दीजिए आप मेरा गीत सुनने आये हैं, बाइस्कोप देखने नही आये।

"मैं आपका गीत ही सुनने आया हूँ। आप भीतर चलें।"

नहीं मैं यहीं पर गाऊँगा। ये लोग जो कल तक यहाँ घंटों आकर बैठते थे आज इस ओर देखते भी नहीं! पैसे देकर बाइसकोप देखते हैं। मैं उन्हें बता देना चाहता हूँ कि मेरे गीत बाइसकोप से

कहाँ अच्छे हैं। मै गाऊँगा और इतना ऊँचा गाऊँगा कि बाइसकोप की आवाज़ भी फीकी पड़ जाय। आसमान गूँज उठे।"

रागी बाबा के माथे पर पसीना आ गया, शरीर का प्रत्येक अंग फड़कने लगा और कॉपते स्वर से उन्होंने गीत आरम्भ किया। दो ही पंक्तियॉ गा पाये थे कि बेहोश हो गये। वैद्य जी उन्हें उठाकर झोपड़ी में ले गये। होश आया तो बोले कैसा था मेरा गीत?"

"बहुत अच्छा।"

रागी बाबा मुस्करा दिये।

जब कोई दूध या अन्न आदि लेकर रागी बाबा के पास आता तो वे उसे पास बैठा लेते—"तू मेरा गीत सुनने आया है—ला एकतारा मैं तुम्हें गीत सुनाऊँ। वैद्य जी कहते हैं कि मैं बीमार हूँ। मुझे गाना नहीं चाहिए। पर तू तो मेरा मेहमान है। कितनी दूर से मेरा गीत सुनने आया है, कैसे न सुनाऊँ।" गाते हुए खॉसी आ जाती। पर रागी बाबा फिर गाना शुरू कर देते। इस प्रकार जो भी उनके पास आता उसे बैठा कर घटों गीत सुनाते। सुनने वालों की आँखों में आँसू भर आते!

रागी बाबा की हालत दिन-प्रति-दिन खराब होती गयी। अब रागी बाबा अकेले बैठे स्वयं ही जोर जोर से गाया करते। रात को एक या दो बजे वहाॅ से गुज़रने वाले रागी बाबा को गाते हुए पाते।

वैद्य जी बहुत चिंतित थे। क्योंकि रागी बाबा की हालत खराब हो चुकी थी। उनकी विक्षिप्तता बढ़ती जा रही थी।

छः महीने बीत गये, टूरिङ्ग टॉकी की अवधि समाप्त हो गयी।

इधर ट्रक कुर्सियॉ और तम्बू से भर के जा रहा था उधर झोपड़ी मे रागी बाबा का मृत शरीर निकाला जा रहा था।

सारा गाँव इकट्ठा हो गया। उस गाँव के लिए जैसे सगीत की मौत हो गयी। सब अपनी गलती महसूस करने लगे।

तब से हर रविवार को रागी बाबा की 'समाध' पर कीर्तन होता है।

उँगली का इशारा

रात के तीन बज गये हैं और मुझे नींद नहीं आ रही। मैं कमरे के चक्कर काट रहा हूँ। सोचता हूँ, शिमले आया था सब कुछ भूलने, और यहाँ भी वही चिन्ता।

अक्तूबर के महीने में सर्दी भी शिमले खूब पड़ती है। सूखी ठंड मुझे पसन्द है। इसलिए मैं यहाँ इन्हीं दिनों आया, जब वर्षा भी न हो और बर्फ भी न पड़ती हो। परन्तु आज तो कयामत की सर्दी पड़ रही है, हाथ पाँव जैसे बर्फ के ढेले बन गये हैं। टाँगें पीपल के पत्तों की तरह काँप रही हैं। फिर भी बेचैनी इतनी है कि बिस्तर पर न लेटकर चक्कर काट रहा हूँ।

इस ठंड में भी, जी चाहता है कि बाहर घूमूँ। किवाड़ खोल कर मैं बाहर निकल आया। चलते हुए सोचने लगा, जो भी हो, शिमला भारत का हिस्सा नहीं! कदापि नहीं! योरपीय शहर है! भौतिकवादियों का शहर है! ऋषियों और तपस्वियों की साधना-भूमि नहीं। अपने इस अविश्वास पर भी विश्वास न हुआ। यहाँ के लोगों को इस आधी रात के समय शायद न देख सकूँ, परन्तु माल को ज़रूर दोबारा देखना चाहूँगा। अभी, इसी समय! मैं उसी माल की ओर चल दिया, जिसने आज सन्ध्या समय, मेरे दिल और दिमाग़ को धक्का पहुँचाया था।

मैं पोस्ट-आफिस के नज़दीक पहुँचा। रिज पर, गिरजा की घड़ी ने

साढ़े तीन का घंटा बजाया। सर्दी, नीरवता, सन्नाटा, धुंध और अंधकार! स्कैंडल-प्वाइंट नाम भी कितना चुलबुला है। बिलकुल भौतिकवादी। स्कैंडल—और उसे ख्याति दी जा रही है। जैसे यही जीवन का लक्ष्य हो।

साँझ समय इस माल पर कितनी चहल-पहल थी। लड़के-लड़कियाँ युवक-युवतियाँ, स्त्री-पुरुष, बूढ़े-बच्चे, याने सभी तो यहाँ थे—एक विचित्र भावना थी सब में। झूठी मुस्कानों द्वारा एक दूसरे का सत्कार करना; झूठे रूपों द्वारा एक दूसरे को आकर्षित करना झूठे ठहाकों से धोखा देना; भद्दे, अश्लील मज़ाक कसना। लेकिन अब तो सूनी माल पर, बिजलियों की पीली रौशनी भी जैसे अपनी व्यर्थता को अनुभव कर, सिसक रही थी। साँय साँय कर ठंडी हवा के झोंके आते और मैं काँप उठता। नाक और कान बर्फ हो चुके थे।

मैं यह सोचता हुआ आगे बढ़ा कि साँझ समय जिस स्थान पर मेला था, रात को वही जगह ऐसे लग रही थी जैसे भूतों का डेरा!

तभी पीछे से आवाज आयी, "क्या तुम भी रात को अकेले घूमना पसन्द करते हो?"

मैंने मुड़कर देखा। कुछ नज़र न आया। धुंध में से अँधेरा झाँक रहा था। जिस दिशा से आवाज आयी थी, उधर आँखें गड़ा दीं।

स्याह आकार धुन्ध में से स्पष्ट होने लगा। कुछ ऐसा अनुभव हुआ, जैसे अन्धकार की ही तरल रेखाओं ने आकार धारण कर लिया हो। क्षण भर के लिए डर से काँप उठा, परन्तु उसके निकट आने पर भय कुछ कम हुआ। वह भूत नहीं, एक आदमी था, जिसने काली शेरवानी, काला पैजामा और काली ही पगड़ी पहन रखी थी।

वह फिर बोला, "सो तुम्हे भी रात को यहाँ अकेला आना पसन्द है।"

"नहीं—नहीं!—हाँ-हाँ! मगर तुम—तुम कौन हो?,'

"मुझे नहीं जानते ? मैं माल का निवासी हूँ, सदा माल पर ही रहता हूँ।"

"अच्छा ! तो क्या सदा से यहीं रहते आये हो ?"

"नहीं ! मैं एक शरणार्थी हूँ। विभाजन के बाद लाहौर से आया हूँ। परन्तु यहाँ बहुत दुखी हूँ।"

"हाँ भाई, जो मौज अपने पंजाब में थी, यहाँ कहाँ ! मगर शिमला तो बहुत अच्छी जगह है, यहाँ भला क्यों दुखी हो ?—और यदि दुखी हो, तो कहीं और चले जाओ !" मैं बोला

"शिमला छोड़ना मेरे अपने बस की बात नहीं, पर शायद चंडी गढ़ बसने पर वहाँ चला जाऊँ !" उसकी धीमी आवाज़ मुझे सुनायी दे रही थी।

"ओ ! अब समझा, तुम सरकारी मुलाज़िम हो !" मेरे मुँह से निकला। वह बोला नहीं। मैने ही कहा, "फिर तुम्हें क्या बन्दिश, जब चाहो चले जाओ !"

"नही, ऐसी बात नहीं। शिमला छोड़ना मेरे अपने बस की बात नहीं। मैं अब एक ऐसी अवस्था में पहुँच चुका हूँ, जब अपने आप व्यक्ति कुछ भी नही कर पाता।"

"तुम्हार तात्पर्य है कि अब तुम इतने अधिक बूढ़े हो कि अपने पुत्रों पर आश्रित हो।"

"सिरफ बूढ़ा ही नहीं हुआ, बुढ़ापे से आगे की अवस्था में भी पहुँच चुका हूँ। और यह भी तुम ने ठीक कहा कि आज कल अपने पुत्रों पर आश्रित हूँ और वे मेरे काबू में नहीं हैं। उसकी आवाज़ में गम्भीरता थी।

मैं मुस्कराया और बोला, "शायद तुम भी मेरी तरह पुराने विचारों के व्यक्ति हो।—और तुम्हारी सन्तान नयी रोशनी में पली है। आधुनिक

युग में सम्भवतः हमारे-तुम्हारे जैसे व्यक्तियों के लिए कोई स्थान नहीं।" मैं इस तरह बोल रहा था, जैसे अपने आप से बातें कर रहा हूँ।

"आधुनिक ?" शब्द में व्यंग्य था, फिर बोला, "इसी नाम के आवरण में ही तो दुनिया भर की बुराई होती है। मैं तो अक्सर यही सोचा करता हूँ कि जिस स्वतंत्र भारत की कल्पना के सहारे हमने जीवन में अनेक त्याग किये, क्या उसका असली स्वरूप यही है। स्वतत्र भारत का वह सपना जो स्वाधीनता के आन्दोलन में हमारा सम्बल था, क्या उसका वास्तविक रूप यही है?" उसकी जोशीली आवाज सुनायी दे रही थी, परन्तु जब उसकी तरफ देखा तो वही अस्पष्ट सा धुँधला आकार।

"इसका मतलब है कि तुम देश-भक्त हो, देश को आजाद कराने में तुम्हारा महत्वपूर्ण योग रहा होगा ?" मेरे शब्दों में उसका परिचय पाने की उत्सुकता थी।

वह बोला, "वे भी क्या दिन थे। देश को स्वतन्त्र कराने का एक जोश था। माताओं ने मुस्करा कर अपनी सन्तान को स्वाधीनता की वेदी पर बलिदान होने को भेजा। इसी धुन में विद्यार्थियों ने कालेज छोड़ दिये थे, सेठों ने विदेशी कपड़े जला दिये थे—परन्तु अब मैं वे सारी बातें भूलने का प्रयत्न कर रहा हूँ। आज उन्हें याद करने का फ़ायदा भी क्या है ? मेरे देश के लोग आज हमारी कुर्बानियों को भूल गये हैं। वे भूल गये हैं कि अभी आर्थिक स्वतन्त्रता लानी बाकी है। और ठीक भी है, राग-रंग में लिप्त लोगों को यह बातें कैसे याद रह सकती हैं। साँझ समय क्या तुम ने इस स्थान को देखा नहीं ? कितनी चहल-पहल थी ? जैसे सौन्दर्य का समुद्र उमड़ आया हो, परन्तु सब कुछ दिखावे का......। व्यक्तित्व, चरित्र और जीवन—सब कुछ ! बनावटी,

और नकली। सादगी, सदाचार और सच्चरित्र जैसे इस जहान की वस्तुएँ ही न रही हों। देश प्रेम एक अवगुण है। त्याग एक भूल! दया, दिल की कमज़ोरी! झूठ और आडम्बर यहाँ का गुरु-मन्त्र है। जो अधिक-से-अधिक धोखा दे सकता है, वही सब से ज्यादा स्मार्ट समझा जाता है। कुछ ऐसा लगता है, जैसे स्वतन्त्रता के बाद भारतवासी नैतिकता के बन्धनों से भी मुक्त हो चुके हैं। विद्यार्थी उच्छृङ्खल हो गये हैं। भारतीय नारी ने प्राचीन बन्धन काट दिये हैं और पुराना रास्ता भी छोड़ दिया है। परन्तु नवीन सीमाएँ मालूम नहीं, इसलिए आज की शिक्षित नारी भटक रही है और शायद तब तक भटकती रहेगी जब तक वह स्वयं अपनी नयी सीमाओं और नये रास्ते को बना न लेगी और......"

मैं बीच में ही टोककर बोला, "तुम तो अच्छे-ख़ासे विचारक और वक्ता नज़र आते हो।"

"हाँ, ठीक कहा, किसी ज़माने में मैं एक विचारक भी था और वक्ता भी!—परन्तु जिस उद्देश्य की पूर्ति के लिए मैंने जीवन-त्याग किया, आज उसकी पूर्ति पर भी मेरे देश की यह अवस्था!" उसने एक ठंडी उसाँस भरी।

मुझे आश्चर्य भी हो रहा था और कुतूहल भी कि इस व्यक्ति के विचार मुझसे कितने मिलते हैं। मैं स्वयं अपनी बात कहने को आकुल हो उठा। मैंने कहा, "तुम ठीक कहते हो, पश्चिम का भौतिकवाद भारत को अधोपतन की ओर ले जा रहा है। सबसे पहले आध्यात्मिक आनन्द के महत्व को जानने वाला भारत आज फिर अन्य देशों की देखादेखी शारीरिक और पाशविक आनन्द के पीछे दीवाना हो गया है।"

"तुम भी बड़े विद्वान नज़र आते हो—कौन हो? क्या करते हो?"

उसने पूछा ।

"मै ? मैं एक रिसर्च स्कालर हूँ । बनारस विश्वविद्यालय में पिछले पाँच वर्षों से भारतीय संस्कृति पर अनुसन्धान कर रहा हूँ ! मन बहलाने और थकावट दूर करने शिमला आया था और यहाँ का रंग-ढंग देखकर मुझे बड़ा धक्का लगा !—तुम वक्ता हो, देश के उद्धार के लिए कुछ करते क्यों नहीं ?"

"मैं कुछ नहीं कर सकता, मेरे हाथ जैसे बँधे हैं । कुछ करने को प्रायः आकुल हो उठता हूँ, पर विवश हूँ ।"

"क्यों ? विवश क्यों हो ?" मैंने पूछा ।

"तुम नहीं समझ सकते," उसने कहा, फिर कुछ क्षण बाद बोला, "पर शायद कुछ क्षण पश्चात समझ जाओ !"

अचरज तो मुझे पहले भी हो रहा था, परन्तु इस रहस्यमय बात ने और भी आश्चर्य में डाल दिया ।

मन-ही-मन मैंने दुहराया—शा—यद—कुछ क्षण बाद समझ जाओ ! आखिर इसका मतलब क्या है ? प्रकट बोला, "तुम्हारा मुँह काला क्यों है—और तुम काले कपड़े क्यों पहने हो ?"

क्षण भर के लिए वह चुप रहा, जैसे सोच रहा हो, यथार्थ बात कहूँ या नहीं ? फिर बोला, "अपने देशवासियों की काली करतूतें ही मेरे चेहरे पर लिखी हैं । और काले कपड़े पहनकर मै मानवता की मृत्यु का मातम मनाता हूँ ।"

मै हैरान था, कितना विचित्र व्यक्ति है ! जहान भर की इन्सानियत की मौत का शोक केवल उसे है । मैं चुप न रह सका, बोला, "तुम तो बड़े-बड़े नेताओं की-सी बाते करते हो ! आख़िर तुम हो कौन ?"

"मुझे नहीं जानते ? शिमले के निवासी तो मुझे अच्छी तरह से पहचानते हैं । सम्भवतः तुम बाहर से आये हो ?"

"वैसे तो मैं बनारस से आया हूँ, पर सोचता हूँ, तुम्हें कहीं देखा अवश्य है।"

"हाँ, देखा होगा, शिमले मे आकर ही देखा होगा! अक्सर लोग मुझे देखते हैं, परन्तु मेरी आँखों की मूक भाषा को समझते नहीं! मेरी दाये हाथ की बड़ी उँगली देख रहे हो! यह असली नहीं। भारत आकर नकली लगायी गयी है। लाहौर में जब रहता तो इसी उँगली के इशारे से कहा करता कि स्वतन्त्रता पा लेना हमारा एक-मात्र लक्ष्य होना चाहिए।

स्वतन्त्रता मिली।

भारत के दो टुकड़े हुए। लाहौर पाकिस्तान के हिस्से आया। मेरी उँगली के इशारे को मुसलमानों ने ग़लत समझा! उन्होंने सोचा शायद एक उँगली उठाकर मैं अखण्ड भारत का प्रचार कर रहा हूँ। उन्होंने उसे तोड़ दिया। तब मेरे देश वासियों को होश आया। मुझे भारत लाये। और तब से इस उँगली से यही सुझाता हूँ, अपने राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण करो, नहीं तो इतने परिश्रम से पायी हुई स्वाधीनता को खो बैठोगे।—पर वे तो मेरी मूक भाषा को समझते ही नहीं!"

हम बातें करते हुए दोबारा पोस्ट आफिस के पास आ गये। वह बोला, "अच्छा, तो अब मैं चलता हूँ!"

"कहाँ?"

"अपने घर!"

"तुम्हारा घर कहाँ है?"

"माल पर!"

"अच्छा!" और मैं सड़क की ओर देखकर सोचने लगा, बड़ा विचित्र व्यक्ति है।

उसे कल मिलने को कहने के लिए सिर उठाया ही था कि

आश्चर्य-चकित रह गया। वहाँ कोई भी न था। मुड़ कर देखा। सामने काला पैजामा, काली शेरवानी और काली पगड़ी पहने, एक हाथ ऊँचा उठाये, उँगली से इशारा करता हुआ लाला लाजपत राय जी का बुत नज़र आया। मैं अवाक् रह गया! तो क्या घंटा भर मैं इस बुत से ही बाते करता रहा था। फिर याद आया, साँझ समय मैं घंटा भर इस बुत को देखकर अनेक कल्पनाएँ करता रहा था। और वहीं एक वकील साहब ने उँगली टूटने वाली घटना बतायी थी।

मैं मुस्कराया—तो बुत उँगली का इशारा कर रहा है, अपने राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण करो।

पर यह तो मेरा अपना विचार है।

क़ज़न

शाम के पाँच बजे के लगभग मैं चाय पी रहा था। ड्राइंग रूम से एक व्यक्ति भीतर आया। उसकी ओर देखा, किन्तु पहचान न सका। 'प्लेस' करने के लिए दिमाग़ पर ज़ोर डाला और एकाएक याद आने पर ऊँचे स्वर में बोला, "ओह! वर्मा! आज अचानक इधर कैसे आना हुआ? सब ख़ैरियत है न?—आओ बैठो, चाय पियो!"

"चाय तो पीयेंगे ही", मन-ही-मन कुछ निश्चय करके, व्यवहार-कुशल वर्मा अपनी घबराहट के भाव को झटकते हुए बोला, "आशा, क्या बाहर ही खड़ी रहोगी? प्रो० मोहन का मकान है।"

लम्बा शरीर, साँवला रंग और लुभावनी मुस्कान! छोटे कदम रखती हुई आशा देवी जी सामने आयीं। हाथ जोड़कर नमस्कार किया।

"यह है मेरी कज़न आशा।" मेरी ओर देखकर वर्मा मुस्कराकर बोला, "और आप—इन्हें तो तुम जानती हो, मिस्टर देवेन्द्र मोहन। रास्ते में इन्हीं का ज़िक्र कर रहा था, बड़े अच्छे लेखक हैं।"

मैंने भी आशा कुमारी जी के नमस्कार के उत्तर मे मुस्कराकर हाथ जोड़ दिये।

मिस्टर वर्मा को मैं बहुत ज़्यादा न जानता था। मसूरी जाने वाली बस में मिस्टर वर्मा और मैं हम-सफ़र थे। मसूरी जाने का यह मेरा

पहला मौका था। बातों-बातों में मैं मिस्टर वर्मा से पूछ बैठा कि मसूरी में कौन-सा होटल सस्ता और अच्छा रहेगा? बस, फिर क्या था, होटल का नाम बताने के बजाय आपने मुझे अपने ही घर ठहराने का निश्चय कर लिया और बोले, "अरे साहब, होटल जाने की क्या ज़रूरत है, आप मेरे साथ घर चलिए और आराम से रहिए। मै भी छुट्टियाँ बिताने घर जा रहा हूँ।"

मैं इसे एक विद्यार्थी की कोरी भावुकता समझ चुपचाप बैठ गया। किन्तु बस-स्टैंड पर बहुत समझाने पर भी आप न माने और मुझे अपने घर ले ही गये। ख़ैर, नतीजा यह निकला कि एक महीने का प्रोग्राम था, पर जब गले पड़े दोस्त की मेहमान-निवाज़ी का बोझा ढोना पड़ा तो एक ही सप्ताह में वापस जाने का निश्चय करने को मजबूर हुआ। जान न पहचान मैं तेरा मेज़बान! सोचने की बात है कि भला कोई कब तक किसी का मेहमान रह सकता है।

पर इतना अवश्य कहूँगा कि जितने दिन वहाँ रहा, खूब अच्छा समय बीता। एम० ए० फ़ाइनल का विद्यार्थी होने के कारण वर्मा मेरी ही उम्र का होगा। सो दुनिया भर की बाते, लेकिन उन दिनों वर्मा की दुनिया में फ्रायड का विशेष स्थान था। पाकेट-बुक-सीरीज़ में छपी फ्राइड की पुस्तक उसने नयी-नयी पढ़ी थी। उसी का भूत सवार था। हर बात में फ्रायड के सिद्धान्त को इस प्रकार फ़िट करता जैसे फ्रेम में तस्वीर।

"बैठो आशा, देवेन्द्र मोहन भी हमारे बड़े अच्छे दोस्तों में से हैं!" वर्मा मेरी ओर देखकर कह रहा था।

मैंने मुस्कराते हुए लाचारी से सिर हिला दिया, "मिस्टर वर्मा ठीक फ़रमा रहे हैं।" भला इसके सिवा कर भी क्या सकता था? यह कहने से तो रहा, मेरी इनसे दोस्ती आदि विशेष नहीं, साधारण

वाकफ़ीयत है !

ख़ैर, अब तो मिस्टर वर्मा का अच्छा मित्र बन ही गया, सो मित्रों की-सी बातें होने लगीं।

बन्द नाली से रुक-रुककर निकलने वाले पानी की भाँति वर्मा का हँसना भी अपनी तरह का है। वह जब बात करता तो समर्थन के लिए आशा की ओर देख लेता। आशा की आखों में कभी रज़ामन्दी की चमक आ जाती और कभी शिकायत तथा बेबसी से आँखे सिकुड़ जातीं।

आशा की ओर देखकर वर्मा बोला, "कहो तो बता दूँ।"

माथे पर त्योरियाँ चढ़ाकर आशा बोली, "बिना बताये चैन नहीं आ रहा तो बता दो, दिन भर तुम्हारी ख़ातिर हुई, उस पर भी यदि बातें बनाओ तो कोई क्या करे ?"

"यों तो कहोगी ही, तुम्हारी सहेली थी न ? उसकी तरफ़दारी न करोगी तो और किसकी करोगी ? अच्छा—तो अब बताने जा रहा हूँ—"कुछ क्षण चुप रहकर वर्मा बोला, "अब भी मौका है, कहो तो न बताऊँ।"

"भला मैं क्यों मना करने लगी !—ज़रूर बताओ अपने दोस्त को।" आशा की वाणी में आकुलता मिश्रित व्यंग्य था।

वर्मा मेरी दायीं ओर तथा आशा मेरी बायीं तरफ़ बैठी थी ! वे दोनों आपस में बातें किये जा रहे थे और मैं--आशा के बात करने पर उसकी ओर देखता और वर्मा के बोलने पर मुँह उस ओर करता। बातों के प्रसंग से अपरचित होने के कारण उनके चेहरे की भाव-भंगिमाओं की ही सराहना कर सकता था। आशा देवी के चेहरे की भंगिमाएँ तो विशेष रूप से लुभावनी थीं; खीझते समय गर्दन को झटक देने की अदा, नाक चढ़ाते समय ओठों की वक्रता और माथे के बल।—

बस देखने से ही मतलब रखते !

"तो अब बताने लगा हूँ, फिर मत कहना, हाँ !" मेरी ओर देखकर "देखो दोस्त हम लोग जब मसूरी से चलने लगे तो हमारी कज़न आशा देवी को सहारनपुर के पास रहने वाली एक सहेली की याद आयी ! सहेली भी कोई मामूली नहीं, एक राजकुमारी ! पूछा गया कि क्या मैं उनके साथ दो-तीन दिन के लिए जा सकूँगा ! मैं मान गया और......"

बीच में ही टोक कर आशा बोली, "न मानते, मैंने ज़बरदस्ती थोड़े ही की थी।"

पर मैं भली-भाँति अनुमान लगा सकता था कि वर्मा ने आशा के साथ जाना स्वीकार क्यों किया होगा ? भला एक युवक अपनी युवा कज़न सिस्टर की तरुण सखी से मिलने को क्यों न उत्सुक होगा ? पर भोली आशा सोच रही होगी कि 'भाई साहब' उसके साथ चलकर जैसे बड़ा भारी एहसान कर रहे हैं ! भाई साहब चतुर ठहरे, बात-बात पर एहसान जता अपनी उत्सुकता को छिपा लेते

"...सहारनपुर पहुँचे। रियासत के आदमी स्वागत करने के लिए आये थे। मालूम हुआ कि हमें यहाँ से सात-आठ मील जाना है। बस या मोटर जाती नहीं। रियासती सवारी पर जाना होगा। बाहर आकर उस गाड़ी के दर्शन हुए, जो हमें लेने आयी थी। गाड़ी तो ज़रूर थी, पर उसे चलाने वाले बैल थे। सीधी भाषा में यह बैलगाड़ी थी। प्राचीन काल के रथों की तरह वह सजी हुई थी। हम दोनों उस पर सवार हो गये। जब तक शहर में से बैलगाड़ी गुज़रती रही, बैठे-बैठे शर्म आती रही और जब रियासत की सड़क शुरू हुई तो इतने हिचकोले आये कि क्या बताऊँ। कभी मेरा सिर आशा के सिर से टकराता और कभी उसका मुझसे। एक बार तो आशा मेरी गोद में आ गिरी।"

मैंने आशा की ओर देखा—लज्जा से उसका चेहरा आरक्त हो गया था। आँखें झुक गयी थीं। दुपट्टे को अपने दाँतों में चबा अपनी झेंप को दूर करने का प्रयास कर रही थी। मुझे ऐसा लगा, जैसे उसकी आँखें वर्मा की ओर शिकायत से देखकर कह रही हों, भला सब बातें बताने की होती हैं!

वर्मा आप बीती सुनाने में बहुत व्यस्त था, बोला, "बस, कुछ न पूछो कैसे रियासत के किले तक पहुँचे। किले के दरबान ने राजा साहब के मेहमानों को याने हमको झुककर सलाम किया और अपनी सवारी भीतर पहुँची। एक वृद्ध महोदय लखनवी टोपी पहने तथा पान से काले दाँतों को निपोरते हुए मेरा स्वागत करने को खड़े थे। उनके पास ही एक नौकरानी आशा देवी का सत्कार करने के लिए मौजूद थी। मुझे आश्चर्य था कि आशा की सहेली स्वागत करने को क्यों नहीं आयी? आशा और उसका सामान ज़नाने में चला गया और मेरे ठहरने का प्रबन्ध उन वृद्ध महोदय ने अतिथि-गृह में कर दिया। जहाँ तक आराम का सवाल है, किसी भी बात की कमी न थी—सच पूछो तो आराम कुछ ज्यादा ही था, कोई बोलने तक की तकलीफ़ न देता। मगर मुझे इस बात पर आश्चर्य हुआ कि मैं अपनी कज़न के साथ रह भी नहीं सकता था।" यह बताते हुए वर्मा के चेहरे पर कुछ ऐसा भाव आया जैसे कोई ग़लती हो गयी हो।

"वहाँ का रिवाज जो हुआ।" आशा सफ़ाई देती हुई बोली।

"पर जनाब दिक्क़त एक बात की थी कि मेरा सामान तो गेस्ट-रूम में पहुँच गया, पर चाभियाँ कज़न के पास थीं। सो वृद्ध महोदय से प्रार्थना की गयी कि चाभियाँ मँगवायी जायँ। उन्होंने अपने नौकर से कहा,—और तब कहीं घंटे भर बाद चाभियों के दर्शन हुए। ट्रंक खोलने पर पता चला कि साबुनदानी तो आशा के पास ही है, सो उसे मँगवाने

के लिए एक घंटा और चाहिए।"

"नहा-धोकर खाना खाते समय वृद्ध महाशय मेरे साथ बैठे। आजकल के नौजवानों की त्रुटियों की सूची बनाते रहे और अपने पुराने ज़माने की तारीफ़ों के पुल बाँधते रहे और फिर वे सोने के लिए चले गये।

"खाने के बाद कुछ समझ न आया कि क्या किया जाय। एक अंग्रेज़ी उपन्यास साथ लाया था। उसके पन्ने उलटता रहा, पर कुछ पढ़ नहीं पाया। सो टहलने लगा।"

"रात को सोने से पहले न जाने कितनी बार आशा को संदेश भेजे।" वर्मा आशा की ओर सरल भाव से देखकर बोला।

"इतना मानता हूँ कि उसके बाद संदेशा भेजने में कुछ आसानी हो गयी थी। राजकुमारी जी का छोटा भाई, जो नौ-दस साल का था, मेरा सदेश ले जाता। नहीं तो......"

आशा बीच में ही बोल उठी, "तुम्हारे बारे में जानने के लिए मैंने ही तो उसे भेजा था—हर बार वापस आकर बड़े एक्टिंग के साथ बताता कि दादा क्या कर रहे हैं। कभी कहता कि दादा कुर्सी के सहारे मेज़ पर पाँव रखकर झूलते हुए कुछ सोच रहे हैं। और कभी......"

वर्मा ने बीच ही में टोका, "सोच ख़ाक रहा था, 'बोर' हो रहा था।"

"मैं समझ गयी थी, पर करती क्या? भला उन लोगों के रिवाज के ख़िलाफ़ कैसे चलती?"

"चौबीस घंटों में एक बार आकर पल भर के लिए बात भी नहीं कर सकती थी......" कुछ अस्पष्ट ध्वनि में वर्मा ने कहा और हाथ नचा कर बोला, "अच्छा रिवाज है।"—पर तुम्हें क्या था, खूब मज़े से सहेली के साथ गप्पें हाँक रही होगी।

"गप्पें कहाँ, खुलकर बात भी नहीं हो पायी। चौबीसों घंटे तुम्हारी

चिन्ता लगी रही और मैं जानती थी कि तुम बातें बनाओगे। दिन में कितनी बार तुम्हारे बारे में पुछवाया था और जनाब हैं कि अब भी मुँह फुलाये हैं।" खीजकर आशा कर रही थी। वर्मा आशा के इस खीजने पर आनन्द अनुभव कर रहा था।

पर मेरी समझ में यह न आया कि आशा कैसी सहेली है! इतनी दूर से चलकर ख़ास अपनी सहेली से मिलने गयी और वहाँ जाकर चौबीसों घंटे उसे अपने भाई की चिन्ता रही।

अपनी विजय पर मुस्कराता हुआ वर्मा बोला, "चिन्ता क्यों न रहती, जानती न थी कि भाई से मार भी पड़ सकती है। गाड़ी की मार भूली तो नहीं?"

आशा ने लज्जा से मुँह नीचा कर लिया। भाई बहन में विरही और विरहन की भावना मेरे लिए कुछ नयी थी और भाई-बहन की आपसी मार-पीट? कुछ समझ में न आया।

वर्मा कह रहा था, "अब मैं ऐसी तरकीब की खोज में था कि किस प्रकार इस जेल से जल्दी छुटकारा मिले। आख़िर इस फ़ैसले पर पहुँचा कि बिना आशा से सलाह किये कुछ बात न बनेगी। यह न हो कि मैं कह दूँ कि हमें आवश्यक काम से जल्दी जाना है और आशा साफ़ इन्कार कर दे! आशा से मिलने का जो प्रबन्ध करना पड़ा, किसी बड़े-बड़े अफ़सर से इटरव्यू लेने के लिए भी नहीं करना पड़ता होगा।"

"किन्तु मैंने तो तुम्हारे मिलने से पहले ही निश्चय कर लिया था कि कल ही चल देंगे।"

"ज़रूर किया होगा!" वर्मा के शब्दों में चिढ़ाने का भाव था।

"मैंने तो अपनी सहेली से भी कह दिया था, बेशक पूछ लेते उससे!"

"पूछ लेता !" मुँह बनाते हुए वर्मा बोला, "अपनी सहेली से मिलाया तक नहीं और अब कहती है—पूछ लेता ! जैसे मेरे देखने से चम्पा की कली मुरझा जाती।"

"मै क्या करती, उनका रिवाज जो हुआ। वह तो यहाँ तक कह रही थी कि पत्र में तो लिखा था तीन-चार दिन रहूँगी, अब एक ही दिन में सलाह क्यों बदल गयी।"

आपस की बात-चीत में वर्मा और आशा इतने उलझ गये थे कि मेरी उपस्थिति को भूल ही गये थे। मैं कभी आशा और कभी वर्मा की ओर देखता। उनकी बातों में व्याकुलता और उत्सुकता थी जब कि भाई बहन के व्यवहार में संयम और शालीनता होती है। इन्हें देखकर मुझे अपने एक नव-विवाहित मित्र की बात याद हो आयी जो मेरे साथ बैठ कर घटों अपनी पत्नी से बातें किया करता था और यह भूल जाता था कि मैं भी वहाँ बैठाहूँ।

"......और वापसी की यात्रा भी उसी हाली केप्टर याने कि बैल-गाड़ी में हुई।" यह कहकर वर्मा ने अपनी कहानी समाप्तकी और मैंने सन्तोष की साँस ली।

उसी रात, खाने के बाद, सब लोग चुपचाप बैठे थे। कोई बात न सूझी तो मैंने आशा से गाना सुनाने की प्रार्थना की। दो-तीन बार कहा, पर आप न मानी। मै चुप हो गया। फिर वर्मा ने अनुरोधों का ताँता बाँध दिया, यहाँ तक कि मैं टेबल पर बैठा-बैठा ऊँघने लगा। झपकी के बाद एकाएक आँख खुली तो आश्चर्य-चकित रह गया। कुमारी आशा जी लड़खड़ाते स्वर से फ़िल्मी गाने की एक पंक्ति 'गा' रही थी और वर्मा झूमता हुआ सिर हिला रहा था। और मैं सोचने लगा कि न गाकर ही आशा अपनी बुद्धिमत्ता का परिचय दे रही थी।

दिमाग़ी निमोनिया

प्रायः लोग कहते हैं, जितनी सर्दी इस साल यहाँ है, पिछले बीस वर्षों से नहीं पड़ी। इसलिए आजकल, घर हो या बाहर, क्लब हो या दुकान, जहाँ दो व्यक्ति मिलते हैं, यही चर्चा होती है—"आज, कल से भी टेम्प्रेचर कम होगी।"

"नहीं आज तो इतनी ठंड नहीं!"

"हाँ, आज कल से सर्दी कम है। कल सुबह तो ओस भी जम गयी थी!" और न जाने क्या कुछ।

मैं भी सुबह उठकर पहला काम यह करता हूँ कि अख़बार में पिछले दिन का टेम्प्रेचर देखता हूँ। अख़बार में लिखा है, शायद आज इतनी सर्दी न होगी। कहते हैं उत्तरी ध्रुव से शीत का बवण्डर आया है और सारे देश पर छा गया है।

सूरज डूबने से पहले ही लता कोठी के सारे दरवाज़े बन्द करवा देती है और हर कमरे की अंगीठी में आग जलवा देती है। नहर के महकमे में यही तो एक मौज है कि जलाने की लकड़ी इतनी सस्ती मिल जाती है कि मुफ्त समझो!

मैं दफ्तर से आया तो बैडरूम की अंगीठी में आग जल रही थी। कमरा खूब गर्म था। लता आग के पास बैठी टिंकू का नया स्वेटर बुन रही थी। टिंकू स्वेटर, कोट, मोज़े, बूट कसे कोने में आया के पास

बैठा खिलौनों से खेल रहा था। मैंने आते ही कोट उतारकर ड्रेसिंग गाऊन पहना। नौकर चाय ले आया। चाय के साथ एक प्लेट में ताज़े तले हुए नमकीन बादाम थे, दूसरी में चिलगोज़े, किशमिश और पिस्ता था।

चाय पीकर मैंने सोचा, अब कपड़े बदले जायँ और रज़ाई ओढ़कर अख़बार पढ़ी जाय। लता सैर की शौकीन है, किन्तु आजकल तो वह घूमने का नाम तक नहीं लेती। उसे तो सूर्य डूबने के बाद, जब तक टिंकू सो नहीं जाता, यही चिन्ता लगी रहती है कि कहीं वह खेलने को बाहर न चला जाय। यद्यपि शाम होते ही टिंकू को इतने गर्म कपड़े पहना देती है कि बेचारा आसानी से चल भी नहीं सकता, खेलेगा क्या!

शाम के छः बज गये, मैं कपड़े बदलकर बिस्तर में लेटने जा रहा था कि चपरासी ने एक चिट दी।

चीफ़ साहब ने उसी समय मिलने को लिखा था। बाहर यह क़यामत की सर्दी और मुझे उनके बंगले तक पैदल जाना होगा। इस विचार मात्र से मुझे जैसे निमोनिया हो गया। पर अब किया भी क्या जा सकता है, मजबूरी थी।

मैं तैयार होने लगा। पूरी बाहों वाले स्वेटर के ऊपर कोट पहना। गर्दन को गुलुबन्द से लपेटा। मोटी जुराबों में बूट फँसाया। दस्ताने पहनकर खूँटी से फ़ेल्ट हैट उठाया। उसी समय लता ने पीछे से पुकारा, "ओवर कोट पहनते जाओ, न जाने रात को किस समय आओगे।"—सो ओवरकोट भी पहन लिया।

बाहर निकला तो सर्द हवा के झोंकों से चेहरा बर्फ़ सो गया। नाक बर्फ़ के ढेले के समान मालूम होने लगी और दिमाग़ बिलकुल ख़ाली था। प्रत्येक विचार का केन्द्र आज का शीत ही था। सड़क सूनी पड़ी

थी, सर्दी है न, इसलिए कोई व्यक्ति अपने घर से नहीं निकला। शायद आज क्लब भी कोई नहीं गया होगा। बिना काम के इस सर्दी में कौन बाहर निकलेगा! एक हवा का झोंका आया और मैं सर्दी से काँप उठा। सड़क के आस-पास खेतों पर नज़र गयी। गेहूँ की अधपकी बालियाँ भी सिकुड़ती हुई काँप रही थीं। जब पौधों की यह हालत है तो मुझे सर्दी लगना तो स्वाभाविक ही है। सोचा, तेज़ चला जाय, शायद गर्मी आ जाय। मैं यही विचार करते हुए आगे बढ़ रहा था कि उसी समय सामने से गाने का स्वर सुनायी दिया। इतने शीत मे कोई गा सकता है, यह बात मुझे समुद्र में हिमालय के तैरने के समान अस्वाभाविक लगी। मेरे ख़याल में इस क़यामत की सर्दी में काँपने-ठिठुरने और सर्दी के बारे में सोचने के सिवा और कुछ किया ही नहीं जा सकता! और सामने यह व्यक्ति झूमता-गाता चला आ रहा है।

क्या इसे ठंड नहीं लगती?

लगती क्यों नहीं! ज़रूर लगती होगी!

वह मेरे निकट आ गया। धूप-जला चेहरा, बिखरे बाल, प्रौढ़ावस्था, मैली-कुचैली धोती और ऊपर गाढ़े की एक चद्दर ओढ़े हुए! पाँव में फटी-पुरानी देशी जूती पहने था। मेरे विचारों को धक्का लगा— क्या इस जाड़े में इन नाम मात्र के वस्त्रों को पहनकर कोई जीवित रह सकता है, मेरी समझ में न आ रहा था। मेरे विचार से तो उसे मेरे सामने आने से पूर्व ही निमोनिया से मर जाना चाहिए था। आज की भी कोई सर्दी है, पशु-पक्षी भी सिमटकर, पर समेटकर अपनी गुफाओं और घोसलों में घुसे बैठे होंगे और एक यह भी इन्सान है जो मज़े से गाता जा रहा है।

मैंने उसे पुकारा, "ज़रा रुकना भाई!"

"जै रामजी की बाबूजी ! का काम है ?" वह रुक गया ।

आश्चर्य तो इस बात का है कि अब मुझे भी सर्दी नहीं लग रही थी ।

"क्या तुम्हें सर्दी नहीं लगती ?" मैंने पूछा ।

"वाह बाबूजी, इहा का पूछे की बात है !" जैसे उसे मेरे प्रश्न की मूर्खता पर आश्चर्य हो, "जाड़ा के दिनन में जड़ाई न तो औउर का गर्मी लागी ?"

बात कितनी मामूली थी, पर कितनी महत्वपूर्ण ! गर्मियों में गर्मी और शीतकाल में शीत !

पर मैं क्या चाहता हूँ ?

—गर्मियों में गर्मी न लगे । सर्दियों में ठंड न लगे !

—प्रकृति से विमुख हो उससे लड़ता हूँ और प्रकृति से दूर रहना चाहता हूँ—कोसों दूर ! जबकि यह व्यक्ति प्रकृति के निकट है ।

"क्या तुम्हारे पास कोई गर्म कपड़ा नहीं ?" मैंने पूछा ।

"गर्म कपड़ा ? वह कहाँ से आई !" वह अपनी पराजय पर स्वयं ही हँस रहा था । किन्तु मुझे ऐसा लगा जैसे उसकी हँसी समाज की विषम परिस्थितियों का उपहास उड़ा रही है ।

"फिर कैसे गुज़ारा करते हो ?"

"आँगा कुर्ता सालि भर पहिरबे करित हैं, और जब जाड़ा में बहुत जड़वै, चादरि ओढ़ि लेईला । काम करत बखत पसीना आय जाला, तो उहो उतार देईला !"

"सर्दियों में केवल कुर्ता-धोती और चादर ?"

"औऊर का ? हमरे लोग बड़का बड़का कोट थोरै सिलाय सकत !"

"हूँ—" और मैं सोचने लगा कि इधर मुझे गर्मियों में मलमल के कुर्तों में भी पसीना आता है, जाड़े में ओवरकोट में भी शीत लगता है ! मुझे लगा जैसे मैं तरह-तरह के कपड़ों और दूसरे प्रसाधनों द्वारा प्रकृति के नियमों से लड़ता हूँ ! पछाड़ भी खाता हूँ और युद्धक्षेत्र में हारे सैनिकों की भाँति सदा भयभीत रहता हूँ ! वह मेरा पीछा करती है। प्रकृति में घिरा प्राणी आख़िर जायगा कहाँ ?—विज्ञान की गोद में ? नहीं, विशाल प्रकृति के सम्मुख विज्ञान तो बहुत सीमित है। वह क्या रक्षा करेगा ?

मुझे चुपचाप खड़ा देखकर वह आश्चर्य-चकित मेरी ओर देखने लगा।

"इस बार तो जाड़ा कुछ अधिक ही पड़ा है, क्या तुम्हें नहीं मालूम ?" मैंने प्रश्न-सूचक दृष्टि से उसकी ओर देखा।

"इह बार जाड़ा कुछ अधिक बाय ! घर जाय के गुड़ के चाय मिली न, इहै सोच कै आधा जाड़ा दूर होई जात ! जाड़ा तो रहिबे करी, तो सोचि के का करे को !"

ठीक है ! सब सोचने की बात है ! यदि जाड़े के बारे में सोचो तो जाड़ा लगेगा। मेरी दृष्टि लहलहाते खेतों की ओर गयी। अधपकी बालियाँ वायु के झोंके की ताल पर नाचती नज़र आयीं।

"अच्छा बाबू हम जाई ! जैराम जी की !" वह अब भी उसी लोक-गीत को गुनगुनाता और झूमता हुआ चला जा रहा था। मुझे ऐसा लगा जैसे शीत और मानव के मलयुद्ध में मैं हार गया हूँ और वह जीत गया है ! उसकी विजय के प्रति मुझे ईर्षा हुई।

ठंडी हवा का झोंका आया और मैं काँप उठा। वह अब भी

मस्ती से गा रहा था। सम्भवतः मेरी ईर्षा की अग्नि उसे ताप पहुँचा रही थी।

एकाएक ध्यान आया, अरे, मैं किस चक्कर में फँस गया, मुझे तो चीफ़ साहब की कोठी जाना है और मैं तेज़-तेज चलने लगा।

घुटन

"न जाने आजकल के नौजवानों को क्या हो गया है? जब देखो उपन्यास पढ़ रहे हैं! एक हमारा भी ज़माना था, जब कोर्स की किताब के सिवा किसी और किताब पर नज़र भी न डालते थे।" पिता जी सुबह सैर करके आये थे और मुझे उपन्यास पढ़ते देखकर भाषण दे रहे थे। "इन्सान को चाहिए कि सूर्य उदय होने से पूर्व उठे। टहलने जाय, नहा-धोकर संध्या करे और फिर बैठकर कोर्स की पढ़ाई करे! मगर आजकल तो न पढ़ाई का ख़याल है, न सेहत का और न धर्म-कर्म का! मेरी तो समझ में नहीं आता कि इन नौजवानों का क्या बनेगा!

मैंने टाल्सटॉय का उपन्यास 'वार एण्ड पीस' जिसके अन्तिम पाँच पृष्ट पढ़ने को रह गये थे, एक ओर पटका और जी मे आया कह दूँ—आज के शिक्षा-शास्त्रियों का मत है कि अच्छे उपन्यास व्यक्तित्व के विकास में सहयोग देते हैं और कोर्स की किताबों का जहाँ तक सवाल है, साल भर दिमाग़ चाटती हैं, छुट्टियों में यदि उपन्यास पढ़ लिया तो हर्ज ही क्या है? मगर चुप रहा। क्योंकि बिना मेरी बात सुने और समझे झट कह देते—कैसा ज़माना आ गया है, बेटा अपने बाप के सामने ज़बानदराज़ी करता है। एक हमारा भी ज़माना था, जब बड़ों के सामने ज़बान तक न खुलती थी।

मेरा दुर्भाग्य कि नौकर उसी समय चाय लेकर आ गया। मैं जल्दी से ब्रश कर आया। पिताजी अभी तक वहीं खड़े थे और उस समय बड़े प्रभावपूर्ण ढंग से भाषण देते हुए कह रहे थे कि चाय पीना जहर पीने के बराबर है। इसलिए चाय कभी नहीं पीनी चाहिए।

विचार तो यह था कि चुपचाप सब कुछ सुन लूँ किन्तु अनजाने ही कह बैठा, "मानता हूँ चाय बहुत अच्छी चीज़ नही है, पर क्या करूँ, आदत पड़ गयी है।" यह कहता हुआ चाय का और पिता जी के अनुसार ज़हर का प्याला उठाने लगा।

"आदत ! आदत !! आदत !!! पैदा हुए नहीं कि आदतें पड़ गयीं। अच्छी आदतें डालनी चाहिएँ न कि बुरी ! चलो नहाओ, फिर चाय को हाथ लगाना।"

मैंने चाय का प्याला वहीं रख दिया और क्रोध से पाँव पटकता गुसलखाने मे गया। नहाकर आया, कपड़े पहनने लगा कि माता जी उधर से गुज़रीं।

"अरे, यह तुम्हारे शरीर को क्या हो गया है ? मेरे बेटे, कितने दुबले हो गये हो ! क्या होस्टल में खाने को कुछ नहीं मिलता ?"

"खाने को भला......"

"खाने को भला क्यों नहीं मिलेगा !" पिताजी मुझे बात पूरी करने का अवसर दिये बिना बोले, "पर सेहत खाने से नहीं, व्यायाम करने से बनती है, मालिश करने से बनती है। कभी व्यायाम भी किया है ? मैं तुम्हारी उमर में एक ही बार सौ डंड निकाला करता था और हर रोज़ मालिश करता था।"

मैं कहना चाहता था, मैडिकल कॉलेज की पढ़ाई ही इतनी होती है कि मुश्किल से शाम को समय निकालकर टेनिस खेलता हूँ। किन्तु चुप रहा। क्योंकि जानता था, सब फ़ज़ूल है।

कपड़े बदल कर फिर चाय मँगायी तो माताजी दूध का गिलास और साथ में घी में चिपचिपाती पिन्नी गर्म कर लायीं। मैं धीमी आवाज़ में अपनी माँ की मिन्नत कर रहा था कि पहले एक प्याला चाय दे दो—बाद में जो कहो खा लूँगा। पिता जी समाचार पत्र पढ़ने लगे थे। वहीं नज़रें जमाये बोले, "होस्टल में कभी संध्या आदि भी करते हो?"

पिताजी कट्टर आर्य समाजी हैं, उन्हें यह देखने का चाव है कि कम-से-कम उनके सब बच्चे सुबह-शाम संध्या किया करें। इसलिए वे प्रायः अपने बेटों से मौके, बेमौके संध्या के बारे में पूछ लिया करते हैं। वैसे तो आज तक मैं और मेरे भाई झूठ बोलकर अपना पीछा छुड़ाते आये हैं। किन्तु न जाने क्यों आज झूठ बोलने को जी न चाहा। मैं पिताजी को बता देना चाहता था कि मेरा तो भगवान पर विश्वास नहीं रहा। किन्तु यह भी नहीं चाहता कि पिताजी उदाहरण सहित भगवान के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए अपना भाषण आरम्भ कर दें। इसलिए चुप रहा। मन-ही-मन सोचने लगा कि सन्ध्या और प्रार्थना दोनों ही में भक्तों का कितना स्वार्थ निहित है। सन्ध्या में व्यक्ति अपनी आँखों के लिए ज्योति, शरीर में अग्नि और मन में बल की इच्छा करता है और प्रार्थना द्वारा चाहता है—बेटा हो—बेटे का बेटा हो—पुत्र सुखी रहें! बेटी के लिए सुन्दर वर मिले इत्यादि...इत्यादि! इन दोनों के द्वारा वह सब कुछ अपने लिए माँगते हैं और मैं सोचता, यदि माँगने मात्र से ही सब कुछ मिल जाय, तो क्यों न मानवता के सुख की कामना करूँ। मैं पिताजी से साफ़-साफ़ कह देना चाहता था कि आपके भगवान में मेरी प्रार्थना स्वीकार करने की क्षमता नहीं, सम्पूर्ण मानवता को सुखी करना उसके बस की बात नहीं। बुद्धि की कार्यशील सक्रियता ही मानवता की समस्या सुलझा सकती है, आपका भगवान

नहीं ! आपकी तनिक सी स्तुति सुनकर प्रसन्न हो जाने वाला भगवान आपकी पारिवारिक और कौटुम्बिक समस्याएँ भले ही सुलझा दे, किन्तु सम्पूर्ण मानवता को सुखी करना उसके बस में नहीं। मैं यह सब कुछ कहना चाहता था, पर कुछ न कह पाता। नवयुवकों के नास्तिक होने के कारण आज भारत में हर साल बाढ़ और भूकम्प आ रहे हैं ! पिता जी यही कहते और इन प्राकृतिक संकटों के लिए नव-युवकों को दोषी ठहराना पसन्द नहीं। फिर उनके साथ बहस कौन करे ! सदा ऐसा होता है। मन की बात मन में रह जाती है। प्रकट रूप से आँखें खोल सन्ध्या समाप्त करने का अभिनय करता हूँ। एक अजीब घुटन-सी महसूस होती है।

नाश्ते के बाद मुझ से काम नहीं होता। सो लेट जाता हूँ ! कुछ करने की इच्छा नहीं होती, न पढ़ने की, न सोने की, न उठने की, न बैठने की ! सोचा कोर्स की किताब पढ़ूँ, नींद आप से आप आ जायगी। सो लेटे-लेटे मेज़ से किताब उठाकर पढ़ने लगा।

सामने के दरवाज़े से बड़ी दीदी आती दीखीं। माथा ठनका, अवश्य कुछ कहेंगी।

"लेटकर पढ़ने से आँखें ख़राब होती हैं, बैठकर पढ़ो।" दीदी कह रही थीं।

मैंने किताब को मेज़ पर पटक दिया और चुपचाप आँखें बन्द किये पड़ा रहा।

"सुबह-सुबह सोने के सिवा और कोई काम नहीं ?" पिता जी भी कमरे में गीता पढ़ने आये थे।

उनकी बात सुन लेने पर भी मैं आँखें मूँदे इस प्रकार पड़ा रहा जैसे गहरी नींद में हूँ। पर मन-ही-मन सोच रहा था कि अब कन्धा पकड़कर पिताजी मुझे उठा देंगे। यही सोचते हुए मेरी आँख लग

गयी। मैं सपना देखने लगा। दो बड़ी-बड़ी हथेलियाँ मुझे दबा रही हैं। एक हथेली पिताजी की है और दूसरी दीदी की। यह मुझे दबोचे क्यो हैं ? यह मेरा दम क्यों घोटना चाहते हैं ? मैं इनका बेटा और भाई हूँ। पर शायद वे जानते नहीं कि वे मेरा दम घोट रहे है। सहसा आँख खुल गयी। चारों ओर देखा। न पिता जी दिखायी दिये और न ही दीदी। मुझे बड़ी तसल्ली हुई।

दोपहर को खाना खाकर सीटी बजाता हुआ अपने कमरे की ओर आ रहा था कि पिताजी ने टोका, "अड़ोस-पड़ोस में जवान लड़कियाँ रहती हैं, इस तरह सीटी मत बजाया करो!"

मैंने जाते-जाते एक क्षण के लिए मुड़कर देखा, कुछ कहा नहीं। चुपचाप अपने कमरे में जाकर चारपाई पर लेटा-लेटा सोचने लगा कि इस हवादार मकान में, जिसके हर कमरे में दो रौशनदान और दो खिड़कियाँ हैं, दम घुट रहा है। असल बात यह है कि मकान भी पिताजी का अपना है और मै भी उनका अपना बेटा हूँ। मुझ पर उनका उतना ही अधिकार है जितना मकान पर! याने जिस प्रकार लोग अपने मकान को इच्छा के अनुसार सजाते हैं, ठीक उसी प्रकार मेरे दिमाग़ की सजावट का बोझा भी उन्होंने अपने ऊपर ले लिया है। मेरे दिमाग़ के एक कोने में दवाइयों की शीशियाँ रखना चाहते हैं, दूसरे में स्वामी दयानन्द का चित्र और आरती का कैलण्डर लगाना चाहते हैं। उन्होंने यह पूछने का कष्ट नही किया कि मुझे मैडिकल लाइन पसन्द भी है कि नही। मुझे डाक्टर इसलिए बनना है कि पिता जी चाहते हैं—अपनी इच्छा का प्रश्न ही नही उठता। मैडिकल कॉलेज की पढ़ाई को तो निभा ले जा सकता हूँ, यह स्वामी दयानन्द की तस्वीर और आरती के उस कैलण्डर से मेरा समझौता नही हो सकता। मानता हूँ उमर में पिता जी मुझ से बहुत बड़े हैं, पर मै भी एकदम

बच्चा नहीं कि मेरी कोई भी बात मानने योग्य न हो। अपनी भलाई-बुराई मैं भी सोच सकता हूँ। मगर यह तो अपने सम्बन्ध में मेरी निजी राय है। पिता जी की नज़रों में तो मैं वही दो साल का नन्हा-सा बच्चा हूँ, जिसे अँगुली पकड़ चलना सिखा रहे हों। उन्हें कैसे समझाऊँ कि मैं बीस-इक्कीस साल का हो गया हूँ। कॉलेज की कितनी ही सभाओं का प्रधान अथवा मंत्री हूँ। किन्तु उन्हें इस सब से क्या? इस घर में तो वही बात होगी जो पिता जी चाहेंगे। इसलिए कभी कभार यों महसूस होता है—जैसे दिमाग़ को कोई निचोड़ रहा है। सोचता हूँ इस घर की चार दीवारी से भाग निकलूँ तो शायद दम-में-दम आये।

शाम को तैयार होने लगा तो पिता जी ने पूछा, "कहाँ जा रहे हो?"

"पहले नरेन्द्र और सुरेश के घर जाऊँगा, वहाँ से शायद पिक्चर—"

"यही फ़िल्में तो आजकल के नौजवानों को बिगाड़ रही हैं।"

कहना चाहता था कि आजकल तो अच्छी फ़िल्मे शिक्षा देने का साधन बन रही हैं और आज जो चित्र मै देखने जा रहा हूँ वह तो विश्वविख्यात है। पर फिर चुप रह गया। मौन रूप से माँ को यह बताकर कि आज देर से आऊँगा, चित्र देखने चला गया।

रात को खाना आदि खाकर सोने की तैयारी करने लगा। टाल्सटॉय के उपन्यास वार एण्ड पीस (War & Peace) के अन्तिम पाँच पृष्ठ सुबह न पढ़ सका था, सोचा वह पढ़ना शुरू करूँ। पढ़ते-पढ़ते सो जाऊँगा।

"गर्मियों में भी क्या रात को पढ़ते हैं? मच्छरों से सारा बिस्तर भर जायगा, न स्वयं सो सकोगे और न दूसरों को सोने दोगे।" पिता जी यह कहते हुए अपने बिस्तर पर लेट गये।

मैंने खीझकर बत्ती बन्द कर दी और किताब को ज़ोर से ज़मीन पर दे पटका ।

पिता जी चादर तानते हुए फिर बोले, "अगर तुम्हें हमारा समझाना बुरा लगता है तो आगे से कुछ न कहा करेंगे।"

रोज़ के कार्य-क्रम के अनुसार पिता जी अन्तिम वाक्य कह चुके थे और निश्चिन्त थे।

पर मैं नहीं सो सका। सोचने लगा, शायद इसी घुटन में मुझे अपनी गर्मियों की छुट्टियाँ बितानी पड़ेंगी। मैं अपने आपको एक बड़ी और पुरानी मशीन के नये पुर्ज़े की तरह महसूस करता हूँ। मशीन चलती जा रही है, मैं उसमें फिट नहीं हो रहा। मुझे लगता है कि मै किसी दिन इस पुरानी मशीन से बाहर जा गिरूँगा।

महत्वाकाँक्षी

मैं एक सपना देख रहा हूँ !

हम एक नाटक खेलने जा रहे हैं। नाटक की रिहर्सल एक छोटे-से ग्रीन रूम में हो रही है। उसे खेलने का प्रबन्ध मेक-अप रूम के साथ, बड़े हाल में किया है !

इस नाटक के टिकटों के दाम बहुत ज़्यादा रखे गये हैं। निर्देशक का विचार है कि इस प्रकार केवल सभ्य लोग ही टिकटें ख़रीद सकेंगे ! समझ में नहीं आता कि क्या धनवान् ही इस नाटक की कला के पारखी हैं ? निर्देशक यही सोचता है ! मै इस बात पर उससे बहस करना चाहता हूँ। फिर विचार आता है कि शायद यह सब सपना है।

इस नाटक में मेरी भी एक छोटी-सी भूमिका है, पर मैं इसे बहुत महत्व दे रहा हूँ। सोचता हूँ, शायद मेरे बिना यह नाटक खेला ही न जा सके।

निर्देशक मेरे वाली भूमिका को जाने क्यों महत्व नहीं देता। फिर भी इस बात से मुझे तसल्ली है कि उसने मुझे थोड़ा-सा अभिनय करने का अवसर तो दिया। वह मुझे परामर्श देता है कि मैं दूसरों का अभिनय देखकर सीखने का प्रयास करूँ। पर मै तो खुद को अपने ही मे पूर्ण समझता हूँ और असल बात तो यह है कि दूसरों को बड़े-बड़े पार्ट करते देखकर न जाने क्यों, मुझे बुरा लगता है—और फिर

कँपकँपी के साथ ध्यान आता है, शायद यह सब सपना है।

जिस हाल में मुझे परसों अपना नाटक खेलना है, वहाँ आज भी बहुत भीड़ जमा हो रही है ! हाल से आने वाली आवाज़ें मेरे कानों से टकरा रही हैं ! मुझे बेचैनी-सी हो रही है। मैं उन आवाज़ों से कुछ मतलब निकालना चाहता हूँ—जानना चाहता हूँ कि हाल में क्या हो रहा है।

निर्देशक और अन्य कलाकार अपने-अपने काम में निरत हैं। बाहर की आवाज़ें उनकी तल्लीनता भंग नहीं कर पातीं। मैं ग्रीन रूम में ही बराबर चक्कर काट रहा हूँ। कुछ समझ में नहीं आता कि क्या करूँ—पर कुछ करना अवश्य चाहता हूँ—बस इतना जानता हूँ।

नाटक की रिहर्सल अब भी हो रही है। मुझे अभिनेताओं के अभिनय और डायरेक्टर के निर्देशन में बेशुमार त्रुटियाँ नज़र आ रही हैं, पर जाने कौन-सा संकोच मेरे ओंठ सी देता है।

हाल का शोर बढ़ता जा रहा है, मेरा अनुमान है कि किसी विषय पर तर्क-वितर्क होने जा रहा है। मैं उसे सुनना चाहता हूँ, परन्तु नहीं, मुझे तो नाटक में भाग लेना है। मेरी बेचैनी और भी बढ़ती जा रही है।

सड़क पर खुलनेवाली लेकिन उस समय बन्द खिड़की में मुझे एक बड़ा गोल छेद नज़र आता है—शायद वहाँ से खिड़की में लगी पुरानी लकड़ी की गाँठ निकल गयी है।

मैं उस छेद से झाँकने लगता हूँ।

मेक-अप रूम स्टेज के पीछे है। इसकी खिड़की सड़क की ओर खुलती है। इस सड़क से ही होकर सब लोग हाल में जा रहे हैं। सड़क की भीड़ और हाल के शोर के बीच मेरा दम घुट रहा है।

चार कब के बज चुके हैं। चाय का समय गुज़र चुका है—मैं निर्देशक से चाय माँगता हूँ। मुझे चाय जल्दी मिलने का वादा मिलता

है—पर मुझे तो चाय चाहिए—वादे नहीं! ये वादे तो दो घंटे से मिल रहे हैं। मैं जानता हूँ शायद चाय कभी न मिलेगी।

झल्लाकर मैं खिड़की के उस बड़े छेद से आँख लगाकर बाहर देखने लगता हूँ। सड़क पर बेपनाह भीड़ है—चलनेवालों के कंधे इस खिड़की से छूते जा रहे हैं।

हँसी-मज़ाक करते हुए कुछ नवयुवक सामने से निकल गये हैं। अब एक प्रौढ़ा अपने अधेड़ पति के साथ चली जा रही है। उसका कंधा खिड़की के किवाड़ को छीलता हुआ सा निकल गया, निमिष भर को मैंने चाहा कि अपने कोट में लगा पिन निकाल उसके कंधे में चुभो दूँ! मै सोचता ही रह गया और वह आगे निकल गयी! शायद मै अब उसे सामने पड़ जाने पर पहचान भी न सकूँ। मैंने तो सिर्फ़ उसके बढ़िया ढग से सजे बाल और सुराही की-सी लम्बी गर्दन ही देखी है। न उसने मुझे देखा है और न मैं ही उसे देख पाया हूँ। फिर भी न जाने क्यों, मैं उसको अपनी उपस्थिति का आभास देना चाहता हूँ। उसे न जानते हुए भी बताना चाहता हूँ कि केवल वे लोग ही महत्व के नहीं, जो आज की सभा में भाग ले रहे हैं। मैं भी उनसे कम महत्व का व्यक्ति नहीं, आज नहीं तो कल इसी स्टेज पर अभिनय करने जा रहा हूँ।

पाँच-छः युवतियाँ छेद के निकट से चली जा रही हैं। उनके चेहरों की ताज़गी, स्वच्छन्द चाल, लापरवाह निगाहें—किसी कॉलेज की छात्राएँ लगती हैं। अब वे छेद से कुछ दूरी पर हैं! मै उनकी भाव-भंगियों को पूरी तरह देख सकता हूँ। कुछ मनचले उनके पीछे जा रहे हैं। वे फबतियाँ और आवाज़े कस रहे हैं। मैं एक ठंडी साँस भरकर रह जाता हूँ, काश मैं भी उनकी टोली में होता! चाहता हूँ, ज़ोर की सीटी बजाऊँ या वे पास आ जायँ, तो इस सुराख़ से दो

उँगलियाँ निकालकर उनके गुच्छेदार बाल पकड़ लूँ! वे चिल्ला उठें। उन्हें पता चले कि इस छोटी-सी कोठरी में भी कोई कलाकार है, जिसे नियति ने महानता की गद्दी पर बैठाने के लिए चुन लिया है। परन्तु वे तन्वंगियाँ भी आगे चली गयी बिना मेरी उपस्थिति का अनुभव किये। मुझे यह अच्छा नहीं लगा। मैंने गुस्से से पाँव पटककर छेद से आँख हटा ली—सोचा आख़िर क्या कारण है कि जो कुछ भी करना चाहता हूँ, नहीं कर पाता! क्यों नहीं छेद से बाहर सिर निकाल सकता? कीलों से मढ़ी खिड़की को क्यों नहीं तोड़ देता!

मैं किवाड़ पर मुक्कों और लातों की बारिश कर देता हूँ लेकिन जब उसे तोड़ नहीं पाता तो झल्ला उठता हूँ।

ठीक उसी समय मेरी बुलाहट होती है। निर्देशक का आदेश मिलता है कि मैं जाकर अपनी उस नगण्य, महत्वहीन भूमिका की रिहर्सल कर लूँ।

"मैं नहीं जाऊँगा। मैं वह ज़रा-सा पार्ट नहीं करूँगा!" मैं चिल्ला उठता हूँ। "मैं नायक की भूमिका में काम करूँगा।"......वे मुझे ढकेलते हैं। मैं चिल्लाता हूँ कि मेरी आँख खुल जाती है।

मैं उठ बैठता हूँ, बिस्तर पर बैठकर आँखें मलते हुए सोचता हूँ कि यही तो मेरे जैसे असफल कलाकार का जीवन है।

तभी मन के अन्दर छिपा वह पुराना कपटी अहम् ठहाका मार उठता है, अरे पागल, यह तो सपना था!

पर क्या यह सचमुच सपना था?

सेवक या सम्राट

बाबू राम स्वरूप ने दफ़्तर में कदम रखा ही था कि चपरासी ने बताया, साहब बुला रहे हैं।

राम स्वरूप ने घड़ी की ओर देखा। वह पन्द्रह मिनट लेट था। घबराकर चपरासी से पूछा, "क्या पहले भी बुलाया था ?

"जी हाँ! दो बार देख गया, पर आप नहीं थे।" यह कहकर चपरासी चला गया।

राम स्वरूप ने जल्दी से कुछ फ़ाइलें, जो घर ले गया था, अपनी मेज़ पर रखीं और साहब के कमरे की ओर चल दिया। आनेवाली मुसीबत की कल्पना मात्र से वह सहम गया। उसे मालूम था कि नये साहब मिस्टर बंसल को वक्त की पाबन्दी का बहुत ध्यान रहता है।

दफ़्तर आने से पूर्व रामस्वरूप नन्हीं की दवाई लेने चला गया था, इसलिए देर हो गयी थी!

पछतावे से ओठों को काटते हुए राम स्वरूप ने अपने साहब के कमरे की चिक उठायी और 'जयहिन्द' कहकर अन्दर गया।

मिस्टर बंसल एक फ़ाइल के पन्नों को उलट-पुलटकर देख रहे थे। उनके चेहरे पर चिन्ता और क्रोध का भाव था। फ़ाइलों में नज़र जमाये हुए ही बोले, "जरा घड़ी की तरफ़ देखो!"

"सर, आइ एम सॉरी!"

"पर बाबू राम स्वरूप, यह पहली बार नहीं, मैं कई बार नोट कर चुका हूँ, मगर तुम्हारी तो लेट आने की आदत ही हो गयी है।"

"आगे से ऐसा कभी नहीं होगा हुज़ूर !"

"आगे से कभी ऐसा न होगा—हूँ ! कहते सब यही हैं, पर दूसरे दिन फिर लेट होते हैं !" खीझकर मिस्टर बंसल बोले, "पर तुम तो समय पर काम भी नहीं करते, सरकारी नौकरी है या मज़ाक ? कल सेठ अमीचन्द वाली चिट्ठी पर अर्जेण्ट (Urgent) की चिट लगायी थी—अभी तक डिस्पैच (Despatch) क्यों नहीं की ?" मिस्टर बंसल राम स्वरूप की ओर प्रश्न-सूचक दृष्टि से देखने लगे।

रामस्वरूप जानता न था कि क्या उत्तर दे। आँखें नीचे किये चुपचाप खड़ा रहा। ग़लती उसी की थी। कल नन्हीं को बुख़ार ज़्यादा हो गया था। उसी की चिन्ता में काम न हो सका था और जल्दी ही घर चला गया था। इसीलिए वह चिट्ठी रह गयी थी।

"चुप क्यों हो ? मैं पूछता हूँ, कल वह चिट्ठी डिस्पैच क्यों नहीं की जबकि उस पर अर्जेण्ट की चिट लगी थी ?"

"सर आइ एम वेरी सॉरी !" राम स्वरूप ने नीचे देखते हुए उन्हीं शब्दों को दुहराया।

"सॉरी कह दिया और बात टल गयी," खीझकर मिस्टर बंसल बोले, "अच्छा जाओ, काम करो—आख़िरी बार चेतावनी दे रहा हूँ, यदि फिर कभी ऐसी ग़लती हुई तो—तो आइ विल टेक सीरियस एक्शन।"

मिस्टर बंसल फिर अपने काम में खो गये।

राम स्वरूप चुपचाप उल्टे कदम वापस लौट आया। आफ़त तो टली पर चेतावनी मिल गयी। राम स्वरूप सोचने लगा कि चेतावनी कोई मामूली चीज़ नहीं—ज़रा-सी ग़लती हुई नहीं कि नौकरी से

जवाब ! ख़ैर 'लिखित सफ़ाई दो' के आदेश से तो ज़बानी चेतावनी कहीं अच्छी है।

राम स्वरूप ने अपनी सीट पर आते ही चिट्ठी को रजिस्टर में दर्ज करके डाक के हवाले किया और ठंडे पानी का एक गिलास पीकर फिर काम में जुट गया। मगर आज राम स्वरूप का चेहरा उतर गया था। वैसे अफ़सरों की डॉट-फटकार तो चलती ही रहती है, परन्तु आज की डॉट से न जाने क्यों वह बहुत घबरा गया। दफ़्तर के सब क्लर्क मिस्टर बसल से डरते थे। अब वे क्षण भर के लिए गप्पे न हाँकते, अपनी-अपनी सीट पर बैठे काम में निरत रहते।

राम स्वरूप यन्त्रवत् एक-एक फ़ाइल उठाकर काम निबटा रहा था— अपनी ओर से कोई कितना भी श्रम क्यों न करे, अफ़सरों का काम ही ग़लतियाँ निकालना है। अफ़सर भी कौन? कल के छोकरे! आई० टी० ओ० बने साल भी नहीं हुआ कि लगे आँखे दिखाने। दिखाये भी क्यों न, यह तो उनका अधिकार है। वे अफ़सर हुए और मै हूँ असिस्टेन्ट, (एक मामूली क्लर्क)। माना मै क्लर्क ही हूँ, पर हूँ तो इन्सान ! यदि कोई ग़लती हो भी जाती है, तो इस तरह आँखें दिखाने की क्या ज़रूरत? कई दिनों तक शाम को सात बजे घर जाता रहा, तब उन्होंने घड़ी नही देखी थी। आज पन्द्रह मिनट की देरी क्या हुई, लगे घड़ी दिखाने ! आख़िर इन अफ़सरों ने हम क्लर्कों को समझ क्या रखा है। आदमी हैं, मशीन तो नहीं। कलम घिसते-घिसते दिमाग़ घिस गया, ऐनक का नम्बर बढ़ गया है, पर इन्हें क्या ! इन्हें तो अपने काम से मतलब है।

राम स्वरूप की नज़र सामने पड़े फ़ाइलों के ढेर पर गयी और वह सोचने लगा—क्या उसे उमर भर यही क्लर्की करनी है, झिड़कियाँ सहनी हैं, नोट्स लिखते रहना है। बस ! क्या उसके जीवन का घेरा

इतना ही संकुचित रहेगा। वास्तव में उन्हें तो टाइप राइटर के उन अक्षरों की तरह समझा जाता है, जिन्हें जैसे ही दबायेंगे वैसा कागज़ पर टाइप कर देंगे।

फिर उसे ध्यान आया कि यद्यपि जाँच-पड़ताल और हिसाब आदि वही क्यों न करे, पर ज़िम्मेदारी होती है अफ़सर की। वह ज़िम्मेदारी के योग्य समझा ही नहीं जाता। क्लर्क जो है! देखा जाय तो क्लर्की का जीवन भी कोई जीवन है।

साथ की मेज़ से बाबू रामजी दास ने फ़ाइल देते हुए कहा, "तुम्हारी फ़ाइल ग़लती से मेरी मेज़ पर आ गयी थी।"

राम स्वरूप ने फ़ाइल सम्हाली और सोचने लगा—यदि वह न रहे तो क्या दफ़्तर का काम रुक जायगा। काम क्या रुकेगा, रामजी दास को दुहरा चार्ज मिल जायगा। विज्ञापन देने भर की देरी है, हज़ारों बे-रोज़गारों की अर्ज़ियाँ आ जायंगी। क्लर्क ढूँढना भला क्या मुश्किल है। अब राम स्वरूप अपने आप को शतरंज के उस प्यादे की तरह महसूस करने लगा, जिसके मर जाने से राजा को आँच नहीं आती। वह शतरंज के खेल में वज़ीर नहीं, जिसके मरते ही राजा को शह मिलने का भय रहता है। वह तो एक प्यादा है जो वज़ीर को बचाने के लिए बिना किसी झिझक के कुर्बान किया जा सकता है।

वह प्यादे की तरह महत्वहीन है। उसका जीना और मरना बराबर है। उससे किसी को कोई लाभ नहीं।

राम स्वरूप को लगा जैसे डंके की चोट कोई उसके दिमाग़ में बार-बार यही दुहरा रहा हो—तुम निकम्मे हो। दफ़्तर को तुम से कोई लाभ नहीं। समाज को तुम्हारा कोई फ़ायदा नहीं। देश पर तुम बोझ के समान हो।

राम स्वरूप की कलम रुक गयी। आँखे बन्द कर उसने अपने हाथों

से माथे को ज़ोर से दबाया।

"क्या सिर दुख रहा है ?" रामजी दास ने पूछा।

"नहीं, कुछ नही !" राम स्वरूप सचेत हुआ। अब बड़ी कठिनाई से वह दफ़्तर का काम कर रहा था। उसका जी चाहता कि वह दफ़्तर से भाग जाय, पर पाँच बजे से पहले वह अपनी कुर्सी से हिल भी नहीं सकता था। बार-बार उसे अपनी क्षुद्रता का भान होता और वह व्याकुल हो जाता। जैसे-तैसे पाँच बजे, उसने साइकिल उठायी और घर की ओर चल दिया।

आते-जाते जिस व्यक्ति पर उसकी नज़र जाती, राम स्वरूप उसे अपने से कहीं अच्छी हालत में पाता। उसे अपनी क्षुद्रता बोरिंग करने वाले यंत्र की भाँति भीतर-ही-भीतर दबाये चली जा रही थी। अपनी महत्वहीनता का विचार आते ही उसका सारा जीवन फूस से भरे हुए किसी बोरे की तरह बेहिस और बेरस दिखायी देने लगता। 'जब यह जीवन एक बोझे के सिवा कुछ भी नहीं तो क्यों न इसका अन्त कर दिया जाय !' उसने सोचा। वह यह सब यातना सहने के लिए जीवित क्यों रहे ? नहीं, वह जीवित नहीं रहेगा ! तो क्या आत्म-हत्या करेगा ? हाँ, आत्म-हत्या ! जीवन का अन्त, दुखों का अन्त है, यातना और तज्जनित ग्लानि का अन्त तथा मिस्टर बंसल की झिड़कियों और धमकियों का अन्त है।

किन्तु कैसे करेगा आत्य-हत्या ! यह भी कोई मुश्किल है। सामने एक लोकल बस आ रही है—हाथो की तरह झूमती हुई। पुराने ज़माने में अपराधियों को हाथी के पाँव के नीचे कुचलने की सज़ा दी जाती थी, आज मैं भी अपने आप को भी सज़ा दूँगा।

तर्क ने धीरे से कान में कहा—सज़ा अपराधियों को दी जाती हैं। तुमने तो कोई अपराध नहीं किया।

हाँ मैंने कोई अपराध नहीं किया। राम स्वरूप ने संतोष की साँस ली, जैसे मुसीबत टल गयी हो। फिर सहसा ध्यान आया—पर मै तो आत्म-हत्या करने जा रहा था। लेकिन मेरा अपराध क्या है? बुद्धि ने उत्तर दिया कि तुम्हारा पहला अपराध है इस संसार में जन्म लेना, और दूसरा है क्लर्क बनना।

बस नज़दीक आ रही है, वह हैंडल को मोड़ देगा, बस के सामने जा टकरायगा। कुचला जायगा, इस जीवन की पीड़ाओं और ग्लानि का ख़ात्मा कर देगा।

बस पास आ गयी है, वह हैंडल मोड़ दे, मोड़ दे, मगर नहीं मोड़ सका। हाथों ने मस्तिष्क की आज्ञा न मानी। वे तो दिल के दास बने थे। बस उसके नज़दीक से उसी तरह गुज़र गयी जैसे जीवन में अनेक सयोग उसके हाथों से निकल गये थे।

राम स्वरूप की निराशा चरम-सीमा तक पहुँच चुकी थी। आत्म-हत्या करने की असफलता ने उसके जीवन की असफलताओं की सूची को बढ़ा दिया।

ओह! अब उसे सारी ज़िन्दगी इसी तरह काटनी होगी। वह जिये जा रहा है, क्योंकि आत्म-हत्या की उस में शक्ति नहीं। वह जड़ है, रास्ते का एक पत्थर जिसे आते-जाते ठोकर लगती है। वह नियति के हाथों एक खिलौना मात्र है।

घर आ गया। यन्त्रवत् उसने साइकिल बरामदे की दीवार से टिका दी। उसने कमरे में पाँव रखा ही था कि बीमार नन्हीं तुतलायी, "पापा जी! आज तो मेरे लिए गुलिआ लाये हो न?" भोली उत्सुक आँखें अपने पापा की ओर देखने लगीं।

राम स्वरूप को ऐसा लगा जैसे बादलों से घिरी अँधेरी रात में बिजली ने चमककर भटके राही को रास्ता दिखा दिया हो। उसने

प्यार से नन्हीं की ओर देखा और वात्सल्य-पूर्ण मुस्कान उसके चेहरे पर खिल उठी—तो नन्हीं को उसकी ज़रूरत है। वह उसके लिए सब कुछ है, उसका पापा है। राम स्वरूप ने संतोष की साँस ली जैसे दुबारा जीवन पाया हो।

धीरे से सरकती हुई उसकी नज़र अपनी पत्नि शाति की ओर गयी। सदा की भाँति उसके चेहरे पर स्वभाविक मुस्कान थी। उसकी मुस्कान की भीनी आँच में राम स्वरूप के दिमाग़ का तनाव पिघलता जा रहा था।

वह अपनी पत्नि का प्राणनाथ है। भोली नन्हीं का पापा है। वह इनकी आशाओं और निराशाओं का निर्माता है। घर में वह प्यादा नहीं, स्वामी है, सम्राट है—सब कुछ है।

अपनी पत्नि और नन्हीं की ओर देखकर राम स्वरूप ने मन-ही-मन निश्चय किया—वह अपनी शाति और नन्हीं के लिए दुनिया भर की मुसीबतें सहेगा और हताश न होगा।

"हम नहीं बोलेंगे, गुलिया क्यों नहीं लाये।"

"कल ज़रूर ला दूँगा बेटी, ज़रूर ला दूँगा।" यह कहकर राम स्वरूप ने नन्हीं को चूम लिया।

आत्म-वंचना

गाड़ी से उतरा। भारी बिस्तर और ट्रंक कुली के सिर पर लदवाया और उसका नम्बर पूछकर उसके पीछे-पीछे चलने लगा। टिकट देकर बाहर निकला ही था कि एक छोटे से लड़के ने मेरे हाथ से टोकरी पकड़ते हुए कहा, "रिक्शा, रिक्शा होगा साब!"

"हज़ूर ताँगा लीजिएगा!" अपने हंटर को हिलाता हुआ एक कोचवान कह रहा था।

"पास ही जाना हो तो बाबूजी मैं सामान ले चलता हूँ!" बूढ़े सिक्ख शरणार्थी की आँखों से बेबसी टपक रही थी।

सब आशा भरी दृष्टि से मेरे फ़ैसले की प्रतीक्षा कर रहे थे। पर मैं तो सिर्फ़ एक के अतिरिक्त सबको निराश करने के लिए विवश था। कोचवान, रिक्शावाले और कुली मुझे इस तरह घेरे थे जैसे गुड़ को मक्खियाँ!

"मुझे रिक्शा चाहिए।"

कई रिक्शा-कुली मेरी ओर इस तरह लपके जैसे कई दिनों के भूखे रोटी के एक नवाले पर लपकते हैं। एक रिक्शावाला फटी नेकर पहने था जिसकी कई जगह पैबन्द लगे थे। पैरों में उसने फुल बूट चढ़ा रखे थे। दूसरा धोती की लंगोटी बनाये था। तीसरा पैजामे को चेन में फँसने से बचाने के लिए उसे रस्सियों से बाँधे था।

वे सब मेरी ओर आग्रह-पूर्ण दृष्टि से देख रहे थे। उनके रूखे चेहरे और भूखी आँखें मानो कह रही थीं कि उनकी रिक्शा पर बैटने से शायद उन पर भारी उपकार करूँगा। जो कुछ मैं दूँगा, स्वीकार कर लेंगे।

"यह रही रिक्शा साब!"

"साब मेरी रिक्शा में!"

"मेरी नयी रिक्शा है सरकार!"

मुझे ऐसा लगा जैसे वे एक दूसरे के मुँह का कौर छीनकर अपने मुँह में डालना चाहते हों। मै खोया-सा चारों ओर देखता रहा। जानता न था कि क्या कहूँ। इतने में नज़र सामने जाते हुए लड़के की ओर गयी जो मेरी टोकरी और अटैची बड़े इत्मीनान से उठाये चला जा रहा था। उसे इस बात की चिन्ता ही न थी कि मैं कोई दूसरी रिक्शा भी कर सकता हूँ।

रिक्शावालों से घिरा मैं बोला, "रिक्शा मैंने कर ली है।"

वे सब मेरा पीछा छोड़ प्लेटफ़ार्म से बाहर आने वाली दूसरी सवारी की ओर बढ़ गये। नन्हा रिक्शावाला मेरे कुली को भी साथ लिये हुए था। सामान उतरवाकर रिक्शा में सम्हालकर रखने लगा।

"इतने भारी सामान के साथ मुझे खींच भी सकोगे?"

"अरे साब, तीन-तीन सवारियाँ भी बैठा ले जाता हूँ!"

पन्द्रह-सोलह साल का यह लड़का और तीन-तीन सवारियाँ बैठा ले जाता है? मेरे आश्चर्य की सीमा न रही। बैठने वाले भी कितने क्रूर होते होंगे। क्या सोचते नहीं, उन्हें दया नहीं आती।......पर यह तीन व्यक्तियों को बैठाने पर राज़ी क्यों हो जाता है। शायद उसे रोज़ी कमानी है—उसे बैठाकर खिलाने वाला कोई नहीं।

मुझे उन दिनों की बात याद आयी जब मैं आदमी द्वारा चलायी जाने वाली रिक्शा पर बैठना अमानुषिक समझता था। इन्सान द्वारा खींची जाने वाली गाड़ी पर बैठना ग़ुलामी का चिह्न समझता! सोचता कि स्वतन्त्र भारत में इन्हें रिक्शा क्यों चलाने दी जाती है? हमारी सरकार इन्हें लाइसेंस ही क्यों देती है? स्वतन्त्र होकर भी हम परतन्त्रता के चिह्नों को अपने से चिमटाये हैं?—

लेकिन सरकार ने तो बड़ी कोशिश की थी कि वे ग़ुलामी के इस निशान को छोड़ दें। पर रिक्शावाले ही तैयार न हुए। बेचारे करें भी क्या? नौकरी तो मिलती नहीं, रिक्शा न खींचे तो क्या भूखों मरें! इसीलिए आज वे रिक्शा खींचकर ज़िन्दगी के कडुए घूंट को बूंद-बूंद पीते हुए अपने काल को निकट बुलाने में व्यस्त हैं।

उन की इस मजबूरी को देखकर मैंने अपना निश्चय बदल दिया! रिक्शा में सवार होने से इन्कार करना तो इन ग़रीबों के साथ जुल्म करना है। सभी लोग रिक्शा पर सवार होना छोड़ दे तो ये लोग कहाँ से खायें।

मगर दो व्यक्तियों के स्थान पर तीन का बैठना निर्दयता है। तभी ख़याल आया कि मेरा सामान शायद तीन आदमियों के वज़न से भी ज़्यादा भारी हो। सोचा ताँगा कर लूँ। पर वह लड़का तो मेरी टोकरी ही छीन लाया था। यदि उससे सामान छीनकर ताँगे में रक्खूँगा तो उसे निराशा नहीं होगी। और मैं चुप रहा।

नन्हें रिक्शावाले ने मेरा सामान भली-भाँति टिकाकर बची हुई खाली सीट पर बैठने को कहा। मैं बैठ गया। उसे हैंडल पकड़े पैडलों पर झुक-झुककर ज़ोर लगाते देखता रहा। वह अपने शरीर का भार डालने को पहले दायीं ओर के पैडल पर झुकता और फिर बाँयीं ओर! डडे के दोनों तरफ़ झुकता और ज़ोर लगाता। गद्दी पर बैठ न पाता।

कुछ ही दूर गया होगा कि चढ़ाई शुरू हो गयी। उसकी साँस फूल गयी। अपने शरीर की सम्पूर्ण शक्ति लगाने पर भी वह रिक्शा को खींच न पा रहा था। वह उतरकर धक्का देने लगा। सोचा कि इस चढ़ाई पर तो उतर जाऊँ।

"लड़के रिक्शा रोको। मैं उतर जाता हूँ। हिम्मत नहीं तो क्यों चलाते हो रिक्शा!"

लेकिन उसने रिक्शा नहीं रोकी "साब चढ़ाई है, अभी पार हो जाती है।" और वह उतरकर ज़ोर लगा रिक्शा को बढ़ा ले गया। मुझे उसने रिक्शा से नहीं उतरने दिया।

बाज़ार में आने पर वह तरह-तरह की आवाज़ों द्वारा लोगों को रास्ते से हट जाने को कह रहा था, "बचना बाबू जी! ज़रा होश से चलो भाई! बहरा हो गया, घंटी नहीं सुनता! बचो, भाई बचो!"

उसी वक्त सामने से एक रिक्शा आयी। हमारी रिक्शा एक ओर हो गयी। सामने के रिक्शावाले ने बड़े आश्चर्य के साथ मेरी रिक्शा-वाले लड़के की ओर देखा और चिल्लाया, "अबे, साले! मरने की सलाह है? सारी रात चलाने के बाद दिन को भी जुत गया है।"

मेरी रिक्शावाले ने दीनता से सिर झुका लिया, कुछ उत्तर न दिया।

......तो क्या यह सारी रात रिक्शा चलाता रहा और अब दिन भर चलायेगा। यह ऐसा क्यों करता है?

शायद उसे पैसे कमाने का लालच है।

लालच पैसे का नहीं, जीने का है!

फिर ध्यान आया कि जब दूसरा रिक्शावाला उससे बातें कर रहा था तो उसके चेहरे पर एक हल्की-सी उदासी छा गयी थी जैसे उसे अपनी परिस्थितियों का ध्यान हो आया हो! माँ बीमार हो! बाप कमा न सकता हो! भाई-बहन छोटे हों।

क्या उस का मन नहीं चाहता कि कुछ क्षण आराम से बैठे ! चाहता क्यों न होगा, पर आराम मिलना उसके अपने वश की बात नहीं।

गाड़ी में रात-भर जागते रहने और चलती रिक्शा में ठंडी हवा लगने से झपकी आ गयी और आँखें बन्द हो गयीं। मैं सपना देखने लगा—रंगीन तरल रेखाओं की बनी हुई रिक्शा हैं। एक नन्हा-सा बालक—एकदम नन्हा-सा दो तीन वर्ष का बच्चा उस रिक्शा को खींच रहा है। पैडल मारने के लिए उसकी टाँगें रबड़ की तरह लम्बी और छोटी हो जाती हैं। मुझे आश्चर्य हो रहा है कि वह कैसे अपनी टाँगें छोटी-बड़ी कर लेता है ? वह इतना दुबला-पतला क्यों है और मैं इतना स्वस्थ क्यों हूँ ? इतने छोटे बच्चे को रिक्शा चलाने की ज़रूरत ही क्यों पड़ी। इसे तो अपनी माँ की गोद में होना चाहिए था। वह हाँफ रहा है, पर मैं अकड़कर बैठा हूँ। मुझे क्या हो गया है ? मैं इतना निर्दयी क्यों हो गया हूँ। मुझे नीचे उतर जाना चाहिए। न जाने कौन सी मूक-भावना मुझे वहाँ बैठाये है। शायद मैं इस अकड़ में हूँ कि पैसे देकर ही तो काम ले रहा हूँ, उतरूँ किस लिए !

......उस बच्चे की साँस रुक-रुककर आने लगी है। रिक्शा की गति धीमी पड़ गयी। वह सम्पूर्ण जीवन-शक्ति से रिक्शा खींचने का प्रयास कर रहा है। वह छाती के बल हैंडल पर गिर गया है। उसने क़ै कर दी है। खून की क़ै ! ढलान पीछे को है इसलिए रिक्शा अपने आप पीछे चलने लगी है—तेज़ हो गयी है—मुझे बचाओ, बचाओ ! मैं चिल्ला उठता हूँ—आँख खुल जाती है।

मेरी रिक्शा आगे चल रही थी—पीछे नहीं ! मैंने सन्तोष की साँस ली कि मैं बच गया। रिक्शावाले को सामने देख इस बात की भी तसल्ली हुई कि मैं खूनी नहीं ! पर अब मुझे भय होने लगा कि मेरी

रिक्शावाला भी खून की क़ै न कर दे। मुझे अब इस रिक्शा में नहीं बैठना चाहिए। सामान वह ले जाय, पर मैं न बैठूँगा। मैं इतना निर्दयी नहीं। मैं इतना क्रूर नहीं!

"रिक्शा रोको! हम पैदल चलेंगे!"

"अब......अब तो......माई हीराँगेट......आ गया है!" एक-एक शब्द के बाद तीन-तीन साँस लेता हुआ वह उत्तर देता है।

और उसने रिक्शा नहीं रोकी। कुछ और ज़ोर देकर चलने लगा।

घर आ गया। मैं उतरा और उसने मेरा सामान भी फ़ुर्ती से नीचे रख दिया।

उसने आठ आने माँगे पर मैंने उसे बारह आने दे दिये। मन को कुछ तसल्ली हुई। शायद उसे मौत के नज़दीक लाने का हर्जाना देकर मैंने अपने आप को मुक्त समझकर सन्तोष कर लिया।

तीन खिलौने

दीवाली का दिन था। बाज़ार मिठाइयों, आतिशबाज़ियों और खिलौनों से सजे हुए थे। भीड़ इतनी थी कि खवे से खवा छिलता था। लोग हँसी-मज़ाक करते जा रहे थे। पर मैं अकेला था—बिलकुल अकेला! जिधर देखता, लोगों के हँसते-मुस्काते चेहरे नज़र आते। मुझे अपना एकाकीपन बुरी तरह अखर रहा था। मेरी नज़र सामने खिलौनों की एक दुकान पर गयी। मुझे भी एक नयी दुनिया मिल गयी। खिलौनों की दुनिया। अवतारों की दुनिया। राम-लक्ष्मण-सीता और हनुमान की दुनिया; शिव-पार्वती-गणेश की दुनिया। सोचने लगा, यह सब देवताओं और अवतारों के खिलौने क्यों? सम्भवतः देवताओं का इस पृथ्वी के निवासियों से विश्वास उठ गया है, जो वे खिलौनों का रूप धारण करके अपना प्रचार करने आये हैं।

सुन्दर खिलौने ऊँचा स्थान पाये हैं! शायद ये खिलौने दुकानदार के लिए सब से ज्यादा धन पैदा करते हैं। तभी तो उनका इतना आदर होता है। सम्भवतः खिलौनों की दुनिया हमारी दुनिया से न्यारी नहीं—जो धन अधिक कमाता है उसी का आदर होता है।

दूसरी पंक्ति में मेरी नज़र राजा राम के तीन खिलौनों पर गयी। तीन खिलौने, तीन भाव—प्रसन्न, शात, दुखी।

मुझे लगा जैसे तीनों खिलौने रामायण की पूरी कथा सुना रहे हैं।

प्रसन्न—राज तिलक के समय; शांत—बनवास के समय; अवसन्न—सीता के परित्याग के समय ! परन्तु दुकानदार के लिए वे तीन रूप नहीं, केवल मिट्टी के खिलौने हैं जो अपने में एक-एक अठन्नी समेटे है । वे उसके लिए पूज्य नहीं, आराध्य नहीं ।

"हम वह वाला लेंगे ।" नन्हें बच्चे की उँगली उन्हीं राजाराम की ओर थी ।

मेरा ध्यान उन खिलौनों से हटकर उस बच्चे पर गया । फूले-फूले गाल और चमकती साटन की नेकर-कमीज़ पहने नन्हा बालक अपनी माँ की उँगली पकड़े था । मोटी तोंद वाला सेठ सम्भवतः उसका पिता था ।

"नहीं बेटा, यह नहीं ।" वह सेठ एक छोटे भद्दे खिलौने को उठाकर बोला, "यह ले लो, यह बड़ा अच्छा है ।" दुकानदार की ओर देखकर कहा—क्या दाम हैं ।"

"एक आना !"

मुझे उस बाप पर क्रोध आ रहा था जो अपने बच्चे में बाल-काल ही से सौन्दर्य और कुरुपता के भेद को जड़ से मिटाने को तत्पर था ।

"यह नहीं, हम वही लेंगे ।" बच्चा रो दिया, "अच्छा भई वही लो । क्या दाम हैं ?" सेठ लाचार था ।

"आठ आने ।"

सेठ ने अपनी जेब से एक चमकती अठन्नी निकाली और हथेली में दबाते हुए बोला, कम न लोगे ?"

"यहाँ एक दाम है, सेठ जी ।"

बच्चा मचल गया ।

"लाओ भाई, अठन्नी वाला ही लाओ ।"

"दुकानदार ने राजाराम का खिलौना बच्चे के कोमल पर उत्सुक

हाथों में दे दिया।

शोकातुर राम का वह खिलौना बच्चे के हाथों में घिरा मेरी ओर देख रहा था। मुझे ऐसा लगा जैसे वह मुझे अपने दुख की कहानी सुना रहा हो—

......मिट्टी का बना हूँ तो इससे क्या ? आँखों वाले ससार को देखा करते हैं, मेरी भी आँखे हैं, मुझे भी सब कुछ देखने का अधिकार है। कान वाले सब की सुनते हैं। मेरे भी कान हैं। मैं भी सब कुछ सुन सकता हूँ। मेरी जिह्वा नहीं, तभी मै बोल नहीं पाता। सब कुछ देखता हूँ, सुनता हूँ, पर चुप रहता हूँ। लेकिन तुम तो मेरी आँखों की मूक भाषा को जानते हो न। इसीलिए तुम्हे अपनी कहानी सुना रहा हूँ :—

सेठ के घर में मुझे स्थान मिलेगा। वही धूप, दीप और मिष्टान्न से नित्य-प्रति मेरी पूजा होगी। यह बात तो सही है, पर इस पूजा-अर्चना के बदले जो कुछ मुझे देना होगा, क्या उसका भी तुमने सोचा ? मै एक व्यापारी के पास जा रहा हूँ। मुझे अपनी सेवा का मूल्य चुकाना होगा। इस सेठ के पापों का सारा भार अपने कंधों पर उठाना होगा। सेठ चाहेगा कि काले बाज़ार में मै उसकी सहायता करूँ। उसके झूठ और पाप को क्षमा करता रहूँ।

जानते हो क्यों ?

इसलिए कि वह मेरी सेवा करता है। मै उसके हाथों बिक जो गया हूँ। यह सेठ भी एक विचित्र व्यक्ति है। मुझ से—एक भगवान से—भी मज़दूर की तरह थोड़े दामों अधिक काम करवाना चाहता है—एक अठन्नी द्वारा उमर भर की सेवा !

यही सब सोचकर दुख होता है। फिर यह जानते हुए भी कि आज के इस युग में शोषण नहीं चल सकता—सेठ पुराने ढर्रे

पर चला जा रहा है। इसीलिए उदास हूँ। सेठ ग़रीबों का खून चूसने के लिए मेरी सहायता चाहता है......

बच्चा खिलौना उठाये आँखों से ओझल हो चुका था। दुकानदार की ओर देखा—भगवान राम के दूसरे खिलौने का सौदा हो रहा था। खरीदने वाला था एक सफ़ेदपोश क्लर्क। सीधी-सादी किनारे वाली धोती पहने उसकी पत्नी भी साथ खड़ी थी। अपने नन्हें के लिए अपने सामर्थ्य के अनुसार उस क्लर्क ने सब से सुन्दर खिलौना चुना। और वह था राजाराम का दूसरा खिलौना। खिलौने को बड़े पवित्र भाव से क्लर्क की पत्नी ने सम्हाला। शांत राम का खिलौना अपनी कहानी कहने लगा—

जिस घर में मैं जा रहा हूँ, वह मध्य श्रेणी के क्लर्क का घर है। थोड़ा कमाता है, थोड़ा चाहता है। उसका मेरे आगे माथा झुकेगा ज़रूर। पर वह मेरे सही अस्तित्व को भी पहचानता है। उसकी श्रद्धा अन्धी नहीं। मैं वास्तव में क्या हूँ, यह उसने पास पड़ी बड़ी-बड़ी किताबों से पढ़ रखा है। वह भली-भाँति जानता है कि मैं भगवान थोड़े ही हूँ, ध्यान लगाने का माध्यम-मात्र हूँ।

दिन भर वह फ़ाइलों में उलझा रहता है। रात को वह मोटी-मोटी किताबों में आँखें गाड़ता है। कर्मयोगी बनने को वह गीता पढ़ता है। वेदांत का ज्ञान विवेकानन्द के ग्रन्थों से प्राप्त करता है और समाज के परिवतनार्थ मार्क्स का अध्ययन करता है। उसकी पत्नी को सदा इस बात की चिन्ता रहती है कि उसकी सेहत खराब हो रही है, पर मुझे इस बात की खुशी है कि उसका ज्ञान बढ़ रहा है। और इस ज्ञान की वृद्धि में ही उसका विकास है। मैं सन्तुष्ट हूँ कि जब मेरे सामने बैठेगा तो मुझे चित्त को एकाग्र करने

का माध्यम बनायेगा। इसीलिए मैं शांत हूँ।

क्लर्क-दम्पति भी मेरी आँखों से ओझल हो गये। अकेले पडे मुस्कराते राम राजा के खिलौने की ओर नज़र पड़ी। मैं चाहता था कि कोई जल्दी ही इसे आकर ख़रीद ले, जिससे मैं उसकी कहानी भी जान लूँ।

लाल रंग का नया घाघरा और पीले रंग की चोली पहने, एक भोली-सी बच्ची दुकान के सामने आ खड़ी हुई। नन्हीं राधा-सी दीखती थी। पीछे-पीछे गाड़े का कुर्ता और धोती पहने बच्ची के बापू और उजला घाघरा पहने बच्ची की माँ भी आ पहुँची।

"बाबा, खिलौने लेबे। बच्ची तालियाँ बजाकर खिलौनों की ओर देख रही थी। उसकी उत्सुक आँखें खिलौनों की दुनिया में खो गयी थीं।

"कौअन खिलौना लेबे बिटिया ?"

"बाबा"! एड़ियाँ ऊँची उठाकर ऊपर सजे खिलौनों की ओर देखकर बच्ची बोली—"ऊ वाला।"

"का दाम हैं बा खिलौने के।"

"आठ आने।" उसने टालते हुए कहा। बड़ी दीनता से बाबा ने अपनी पत्नी की ओर देखा और बोला—"का करें ?"

"दुई आना हमारे पास भी अहन। बच्ची की बात है और भगवान का खिलौना।" माँ ने अपनी नन्हीं के गालों को थपथपाते हुए कहा।

"छः आने न लेबो ?"

"यहाँ एक दाम है।"

"अच्छा!" स्वर में बेबसी थी, महँगे हैं यह भगवान, बिटिया, कौन और बताओ जौन चाहो।

बच्ची का खिला चेहरा मुरझा गया।

राम की माटी की मूर्ति अब भी मुस्करा रही थी।

"बिटिया के लिए देई दे। अगर पैसा होत तो भगवान की मूरत खाते रुपैया भी देई देत।" छः आने दुकानदार की ओर बढ़ाकर बोला।

"जाओ, जाओ, अपना रास्ता नापो। यहाँ मोल-भाव नहीं होता!"

बच्ची के आत्माभिमान को धक्का लगा, सो अपने बाबा की उँगली पकड़ बोली—"चलो बाबा और खिलौने न लेबे।"

बच्ची का मुँह रुआँसा हो गया।

तभी दुकान के पास खड़े एक युवक ने, जो यह कौतुक देख रहा था, दुकानदार को बाकी पैसे देने का वायदा किया। दुकानदार ने निराश होकर जाते हुए किसान से कहा—"ओ बुढ़ऊ खिलौना लेते जाओ।"

खिलौने के स्पर्श से बच्ची का अंग अंग नाच उठा।

उस खिलौने की मुस्कान चुपके से मेरे कानों में अपनी कहानी कहने लगी—

मैं गाँव में जा रहा हूँ। एक किसान के पास रहूँगा। उसी किसान के पास जो मेरा बड़ा भाई है।

भगवान का बड़ा भाई किसान कैसे? यही जानना चाहते हो न। किसान लोगों के पेट की ज्वाला को शांत करता है और मैं मानसिक अशाति को दूर करता हूँ। क्षुधा पहले आती है और अशांति बाद में। सो मेरा बड़ा भाई हुआ न किसान।

परन्तु मूर्ख दुनिया मुझे ही अन्न देने वाला समझ बैठी है। असली अन्नदाता को भूली हुई है।

मै मिट्टी के पारखी के पास जा रहा हूँ और मिट्टी से ही शरीर बना है। इसलिए किसान ही मेरा वास्तविक मूल्य जान पाता है, तभी तो मै खुश हूँ।

मेरे ख़रीदे जाने में भी एक रहस्य छिपा है। किसान की सहायता एक सचेत युवक ने की और मै ख़रीदा गया। इस छोटी-सी घटना में मेरे देश का उज्जवल भविष्य छिपा है, जब यहाँ के उजड़े किसान का घर सचेत बुद्धि के सहयोग से आबाद हो जायगा। इसीलिए मेरे चेहरे पर मुस्कराहट है। नन्हीं राधा नाचती-कूदती बहुत दूर चली गयी थी।

मेरी आँखे डबडबा आयीं। दृष्टि उस खाली स्थान पर गयी जहाँ पहले राम के तीन खिलौने रखे थे। मुझे ऐसा लगा जैसे यह राम के नहीं, भारत माता के तीन रूप थे।

———

लाल फ़ीता

दिनभर साहब की झिड़कियाँ सहने के बाद आजकल तो घर पहुँचकर भी माला की चुभती नज़रों का सामना करना पड़ता है।

दफ्तर से लौटने पर, कमरे में पाँव रखते ही उसने पूछा, "तनख्वा मिली ?"

"नहीं !" मैंने अपने थके शरीर को केनवस की पुरानी आराम कुर्सी पर पटकते हुए कहा।

वह बिना कुछ कहे, दो क्षणों के लिए मेरी ओर देखती रही, जैसे कह रही हो —महीने में सिर्फ़ एक बार तनख़ा लाकर तुम्हें अपना कर्त्तव्य निभाना होता है, पर तुम चूक जाते हो, और इधर मेरी ओर देखो, दो महीनों से बिना तनख़ा के घर-गिरस्ती चला रही हूँ। उसकी नज़रों की भाषा समझते हुए भी मै अनजाना बना रहा। मैंने सिर झुका लिया। नहीं जानता था कि उसके अगले प्रश्न का उत्तर क्या दूँगा।

तभी मुन्नी के रोने की आवाज़ आयी। माला दूसरे कमरे में चली गयी। मुझे लगा जैसे मुसीबत टल गयी। किन्तु फिर ध्यान आया— मुन्नी भी तो आज तीन दिन से बीमार है। बिना पैसे के डाक्टर के पास भी कैसे जाऊँ। ओफ़ ! सिर पकड़कर बैठ गया। अपनी मजबूरी और बेबसी पर क्रोध आने लगा। न जाने कितनी देर उसी तरह

बैठा रहा।

बाहर से घिसटते बूटों की आवाज़ आयी। शायद सुरेन्द्र कॉलेज से आ रहा है। परसों सुरेन्द्र ने जूते पर सोल लगवाने को पैसे माँगे थे—कहाँ से देता? और कितने दिनों से फ़ीस माँग रहा है। मैंने सिर उठाकर उसकी तरफ़ न देखा। मुझे डर था, कहीं वह यह समाचार लेकर न आया हो कि कॉलेज से उसका नाम कट गया है।

सिर भारी-भारी सा महसूस होने लगा। दफ़्तर से आते ही जहाँ पहले माला की मुस्कान के साथ चाय का प्याला मिला करता था, वहाँ आज माला की चुभती नज़र के साथ अनेक चिन्ताओं ने आ घेरा था।

—मगर आज माला चाय बनाकर क्यों नहीं लायी?

—शायद मुन्नी के पास बैठी होगी!

—सुरेन्द्र से कहूँ, एक प्याला चाय बना दे। किन्तु नहीं, वह भी कॉलेज से थककर आया है। मैं स्वयं ही बना लेता हूँ।

चाय बनाने रसोई-घर में गया। न स्टोव में तेल था और न ही जलाने की स्पिरिट। चीनी और चाय की पत्ती के डिब्बे खाली थे। मुझे लगा जैसे रसोई घर में पड़े सब डिब्बे खाली हैं। उन सब को टाँगें लग गयी हैं। मेरे गिर्द नाच रहे हैं। मेरा मज़ाक उड़ा रहे हैं। खाली डिब्बे ज़ोर-ज़ोर से बजने लगे। मैंने अपने कानों पर हाथ रख लिये। उसी समय मुझे उस फ़क़ीर की याद आयी, जो अपने खाली पेट पर हाथ रखकर कहता था—'भूखा हूँ, रोटी दिला दो!'—मैं फिर उसी कुर्सी पर आकर बैठ गया।

घर के अभाव, शरीर की थकान और मुँह की कड़ुवाहट को भूलने के लिए मैं फ़ाइलों की ओर झुका।

लगभग घंटा भर फ़ाइलें देखता रहा। माला आयी और बिना

कुछ कहे सामने खड़ी हो गयी। यह जानते हुए भी कि माला सामने खड़ी है, मैं फ़ाइलें देखने का अभिनय करता रहा। माला की नजरों की चुभन अनुभव कर रहा था, किन्तु उनका सामना करने की हिम्मत मुझमें नहीं थी।

"आज तो कुछ-न-कुछ प्रबन्ध करना होगा? लकड़ी-कोयला ख़त्म हो चुका है, मिट्टी का तेल भी नहीं रहा!" माला ने चुप्पी तोड़ी।

एक फीकी-सी, बेबस मुस्कराहट चेहरे पर लाकर बोला, "आज एकाउंटेंट कह रहा था कि कल—"

"यह तो आज कई दिनों से सुन रही हूँ। पर जैसे भी हो, अब तो कोई-न-कोई प्रबन्ध करना ही होगा। चीनी-आटा और घी भी ख़त्म होने को है।"

बेबसी खीझ में परिवर्तित हो चुकी थी, बोला, "अब मै कहाँ से लाऊँ! पिताजी के पास तो जो है, सो तुम जानती ही हो! मदन के दो सौ रुपये देने हैं। रमेश से पिछले महीने पच्चास रुपये लाया था। और किससे माँगूँ?

"पर मैं भी क्या करूँ? परसों रद्दी बेचकर दो दिन गुज़ारा चलाया, अब और क्या हो सकता है?"

मैं सिर नीचा किये चुपचाप बैठा था। माला फिर बोली, "मुन्नी के बुखार को तीसरा दिन है! दवाई तो ख़ैर क्या आयेगी, अब तो दूध गर्म करने के लिए कोयला-लकड़ी भी नहीं! समझ में नहीं आता, क्या होगा।" माला को इतना घबराये हुए कभी नहीं देखा था। उसकी आँखों की कोरों में आँसू थे। मैं उसके पास गया और उसकी साड़ी के पल्लू से उसके आँसू पोंछते हुए बोला, "भला इस तरह घबराने

से क्या होगा, आदमी को हिम्मत से काम लेना चाहिए!" और मैंने माला को अपनी भुजाओं में भर लिया।

उसी समय मुन्नी के रोने की आवाज़ फिर सुनायी दी। माला और मैं दोनों उस ओर गये। मुन्नी सोकर उठी थी। मैंने उसकी नब्ज़ देखी। कलाई तप रही थी और नब्ज़ तेज़ थी! एक सौ दो डिग्री से कम टेम्प्रेचर न थी।

रात को मुन्नी कई बार जागी। सुरेन्द्र शायद रात भर अपने कमरे के चक्कर काटता रहा। माला रोती रही और मैं सोचता रहा, कल क्या होगा?

नींद भी न खुली थी कि दरवाज़े पर दस्तक हुई। माला घबराकर उठी और धीरे से फुसफुसाती हुई बोली, "ज़रूर कोई बिल लेकर आया होगा!"

"शायद" मैं चिटख़नी खोलने को उठा।

अख़बार वाला आया था। यद्यपि पिछले दो महीनों से अख़बार बन्द कर दिया था, किन्तु उससे पहले का एक बिल अभी तक न दे पाया था।

बिना उसे बोलने का मौका दिये मैंने कहा, "दो-तीन दिनों में दुकान पर आकर ही बिल दे जाऊँगा।"

मैं सोच रहा था, शायद कहे, पिछले दो महीनों से दुकान पर ही आपकी प्रतीक्षा कर रहे थे। मजबूरन आना पड़ा। किन्तु वह कुछ न बोला। मायूसी से अपने सिर को हल्का-सा एक झटका देकर वापस चला गया। मुझे आश्चर्य हुआ। शायद पत्र-पत्रिकाएँ बाँटने से समझदार हो गया है।

उसी समय दूधवाले की घंटी सुनायी दी। अब उसे क्या कहा जाय? यद्यपि वह जानता है कि आज तीन साल से उसकी एक पाई

भी नहीं रही, किन्तु अब तीसरा महीना चल रहा है और उसे पैसे नहीं मिले। उसके धीरज का बाँध टूट गया है। पिछले हफ्ते से हर रोज़ पैसे माँगने लगा है।

आज माला जब पतीला लेकर दूध लेने गयी, वह ऊँची-नीची बातें करने लगा—"तीन महीनों से एक पैसा नहीं मिला, ख़ैरात में तो दूध बाँटते नहीं फिरते! और भी तो नौकरियों वाले हैं। टो नहीं तो तीन तारीख़ तक सब पैसे चुका देते हैं। अगर बाबूजी की नौकरी ही छूट गयी है, तो दूध काहे लेते हैं?"

अपने आप को काबू में रखने के लिए माला ने आँखें बन्द कर लीं मानो बस चले तो उसकी ज़बान ही खींच ले, किन्तु सब कुछ सहते हुए धीरे से बोली, "चिल्लाता काहे को है, एक-दो दिनों में तुम्हारे सारे पैसे चुका दूँगी।" मन-ही-मन आत्म-ग्लानि अनुभव कर रही थी। यदि अड़ोस-पड़ोस वाले सुनेंगे तो क्या कहेंगे!

"झूठ थोड़े ही कह रहा हूँ, जो किसी का डर हो! दूध लेना है तो पहले पिछले पैसे दो।"

मैं भीतर बैठा सब कुछ सुन रहा था। दूधवाले की निर्भय वाणी के प्रति मेरे मन में ईर्ष्या हो रही थी, काश मैं भी इतनी निर्भयता से अपने साहब से कह सकता—काम लेना है तो दाम दो।

मैं बाहर आया। दूधवाले को विश्वास दिलाया, "परसों पैसे ज़रूर मिल जायेंगे, चिन्ता मत करो!"

ओठों में बड़बड़ाता हुआ दूध देकर वह चला गया।

और मैं बैठे-बैठे सोचने लगा, पैसे के बिना व्यक्ति का अस्तित्व ही नहीं है। दो कौड़ी का आदमी भी पगड़ी उछाल सकता है।

दफ़्तर जाने को तैयार होने लगा। शेव का सामान इकट्ठा किया। एकाएक ध्यान आया, आज तो घिसा ब्लेड भी नहीं है। पिछले

पन्द्रह दिनों से एक ब्लेड को शीशे के गिलास पर तेज़ करके काम चलाता आ रहा था, किन्तु वह ब्लेड भी कल टूट गया था। सोचा, चलो, आज शेव नहीं करते। नहाने गया तो देखा, साबुन और तेल भी नहीं है। मुझे ऐसे लगा जैसे सारे घर पर अभाव की एक छाया मँडरा रही है। बाल बनाते हुए न जाने क्यों कघी तोड़ डाली।

दूध का गिलास और काँसी की प्लेट में बिस्कुटों का चूरा लेकर माला मेरे सामने खड़ी थी। दूध पुरानी टोकरियाँ आदि जलाकर गर्म किया गया था।

माला बिना कुछ कहे चुपचाप मेरे सामने खड़ी थी। अभावों के स्थायी चिन्ह उसके चेहरे से चिपक गये थे। माथे पर बल, सफ़ेद बाल और गालों में गढ़े! अभी तक वह कुछ बोली नहीं, जैसे कोई निश्चय कर रही हो। एकाएक हाथ आगे बढ़ाकर उसने कहा, "यह लो, इन्हें बेचकर आज डाक्टर को अवश्य बुला लाओ!" सोने की चूड़ियाँ मेरे सामने थीं।

"न, न, यह कैसे हो सकता है! तुम्हारे गहने बेच दूँ—कभी नहीं! कभी नहीं!—आज ही साहब से मिलता हूँ, नौकरी है या मज़ाक?" मैं तेजी से बाहर निकल आया।

माला पीछे-पीछे आयी, "मैं कहती हूँ, इसमें हर्ज ही क्या है, यदि तनख़ा मिल गयी तो भला, नहीं तो इन्हें रहन रखकर कुछ पैसे ले आना। परचून वाले सेठ के पैसे दे आना। रोज़ दोपहर को आ जाता है। मैंने उसे कई बार कहा है—सुबह या शाम को आया कर, जब बाबू जी होते हैं। हँसकर पान और तम्बाकू से काले दाँतों को निपोरता हुआ बोला, "मैं बिल लेने थोड़े ही आया था, मैं तो सिर्फ़ यह कहने आया था, हाथ तंग हो तो—"

"अच्छा!" मैं दाँत पीसकर रह गया। "उस पाजी की यह

हिम्मत।" और पाँव पटकता हुआ मैं बाहर चला गया।

दफ्तर पहुँचते ही मैंने सबसे पहले साहब से मिलने का इरादा किया। डिवेलेपमेंट स्कीम में अस्थायी नौकरी है तो इससे क्या, साहब खा थोड़े ही जायगा। मैं आज साफ़-साफ़ कह दूँगा, यदि तनख़ा मिले तो काम करेंगे, नहीं तो यह रहा मेरा त्यागपत्र!

कमरे में कदम रखते ही जाने क्यों मुँह से शब्द ही न निकलते थे, बोला, "मैं—मैं—जी, जी,—तनख़ा—"

"काग़ज़ी कारवाही पूरी हो जायगी तो तनख़ा मिल जायगी।

मैं बाहर निकल आया। अपनी सीट पर आकर बैठ गया। सामने फ़ाइलों का अम्बार पड़ा था। एकाएक मुझे महसूस होने लगा जैसे फ़ाइलों के ढेर में दबकर मेरी साँस रुक रही है और लाल फ़ीता मेरा, मेरी पत्नी और मेरी बच्ची का गला घोंट रहा है।